दंसण मूलो धम्मो

# आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० 2499 तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष 28 अंक नं० 7

## समता हमारी कुलदेवी है

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

अहा, भेदज्ञानी या अज्ञानी-दोनों के प्रति मुझे समता है।—ऐसी समता कब रहती है ? कि जब राग-द्वेष रहित 'चेतना' वेदन में आयी हो! चेतना स्वयं स्वरूप से ही राग-द्वेष रहित है; फिर सामने भेदज्ञानी हो या अज्ञानी हो; दोनों में समतारूप रहने की शक्ति चेतना में ही है। चेतना ही उसे कहा जाता है कि जिसमें राग-द्वेष न हो, जो राग-द्वेष न करे, और राग-द्वेष रहित समतारूप ही रहे।

अहा! ऐसी सुंदर चेतना, ऐसी सुंदर समता, वह तो मेरी कुलदेवी है, मेरी चेतना का कुल ही समतारूप है। समता यह तो मेरी चेतना का सहजस्वरूप है। इसलिये चेतनारूप ऐसे मुझे सर्वत्र समभाव है, किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं है, कोई मेरा मित्र या शत्रु नहीं है। ऐसे वीतरागी समभावरूप मेरी चेतना है, वह सर्व ज्ञानी संतों को सम्मत है। मैं अपने आत्मा को ऐसी चेतनारूप ही निरंतर भाता हूँ—अनुभवता हूँ। इसलिये मेरी परिणति में समता सदा जयवंत है।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

दिसम्बर : 1972] वार्षिक मूल्य 4) रुपये ( 331 ) एक अंक 35 पैसा [कार्तिक : 2499

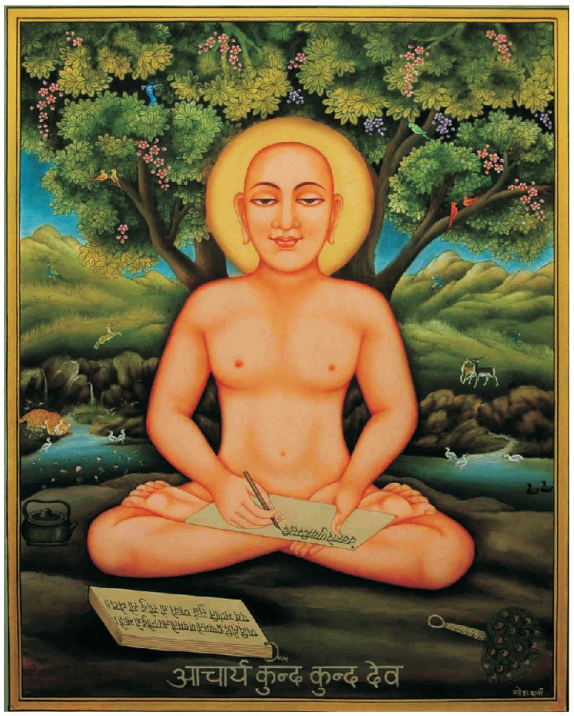


# भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव-स्तुति

जासके मुखारविन्द के प्रकाश भास वृंद।
स्याद्वाद जैन वैन इंदु-कुन्दकुन्द से,
तासके अभ्यासतैं विकास भेदज्ञान होत,
मूढ सो लखै नहीं कुबुद्धि, कुन्दकुन्द से॥
देत हैं अशीस शीसनाय इंद चंद जाहि,
मोह-मार-खंड-मारतंड कुन्दकुन्द से;
विशुद्धि-बुद्धि-वृद्धिदा प्रसिद्ध-ऋद्धि-सिद्धिदा,
हुए न हैं न होहिंगे, मुनिंद कुन्दकुन्द से॥

(कविवर वृन्दावन)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

संपादक : ब्र० हरिलाल जैन 卐 सह-संपादक : ब्र० गुलाबचंद जैन

दिसम्बर : 1972 ☆ कार्तिक : वीर नि० सं० 2499, वर्ष 28 वाँ ☆ अंक : 7

# मोक्ष का मार्ग

'ज्ञानस्वरूप अनुभव है, सो मैं हूँ'—इसप्रकार शुद्धात्मा की प्रतीति द्वारा अज्ञान दूर होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होता है। ज्ञेयरूप से ज्ञात होनेवाले अनेक भावों में जो ज्ञान की रचना करनेवाला है, वही मैं हूँ; राग की रचना करनेवाला मैं नहीं हूँ; जड़ की, भाषा की, शरीर की, रचना करनेवाला मैं नहीं हूँ; उन्हें जाननेवाला जो ज्ञान है, उस ज्ञान का रचयिता ज्ञानस्वरूप मैं हूँ।—इसप्रकार परभावों से पृथक्करण करके ज्ञानस्वरूप से स्वयं अपने को अनुभव में लेना, वह ज्ञान का सेवन है, वह जीवराजा की-आत्मा की सेवा है और वही मोक्ष का मार्ग है।

# आसन्नभव्य सुदृष्टि को परम स्वभाव की सफलता

जगत में सबसे बड़ा कौन ?–तो कहते हैं यह मेरा परम स्वभाव ही सबसे बड़ा है। केवलज्ञानादि भी इसी के आश्रय से होते हैं। ऐसे परम स्वभाव को यहाँ प्रगट किया है। अहा, यह तो कुन्दकुन्द आचार्यदेव के शास्त्र! इनकी क्या बात! भगवान तीर्थंकर देव ने दिव्यध्वनि में जो अर्थरूप कहा, गणधर भगवान ने जो ग्रहण करके श्रुतरूप शास्त्रों की रचना की और उनकी परंपरा में वीतरागी संतों ने अनुभव करके जो कहा—वह यह परम तत्त्व है। ऐसा तत्त्व किसी महान भाग्य से सुनने को मिलता है... अनुभव में ले, उसकी तो बात ही क्या!

[नियमसार गाथा 110]

आत्मा का परम स्वभाव क्या है—कि जिसका आश्रय करने से वीतराग समभाव प्रगट हो, और कर्म के विषवृक्ष का छेदन हो जाये, उसका यह अलौकिक वर्णन है—

**जो कर्म-तरु-जड़ नाशके सामर्थ्यरूप स्वभाव है।**
**स्वाधीन निज समभाव आलुंछन वही परिणाम है॥110॥**

संसार से मुक्त होने के लिये अत्यंत आसन्नभव्य सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा को कैसा भाता है, उसका यह वर्णन है। अहो, श्रेष्ठ चैतन्यतत्त्व की यह बात है। प्रभो! अपने परमस्वभाव की बात सुन तो सही! लक्ष में तो ले! जिसे लक्ष में लेने पर तुझे ऐसी प्रतीति होगी कि अहो, ऐसा अद्भुत मेरा परम तत्त्व है! इस तत्त्व की सन्मुखता द्वारा जो सम्यक्त्वादि वीतराग समभाव प्रगट हुआ, उसी में मेरे तत्त्व की सफलता है। चैतन्यस्वभाव के सन्मुख होकर परिणमित हुआ, वहाँ कर्म का मूल छिद गया। संसार मूल में से छिद गया, और आत्मा ने अपनी परम चैतन्यनिधि से परिपूर्ण निजगृह में निवास किया। उसने सत् ऐसे अपने स्वभाव का 'सान्निध्य' किया और विभाव से दूर हुआ।

'यह' मेरा परमभाव है—इसप्रकार स्वसंवेदनप्रत्यक्ष से धर्मी जीव ने लक्ष में लिया है,

वह अत्यंत आसन्नभव्य है। अंतर में सत् वस्तु है, प्रगट वस्तु है—वह ज्ञान में न आये, तब तक उसके लिये वह 'प्रगट तथापि अप्रगट' है। वस्तु जैसी है, वैसी ज्ञान में ज्ञात हुई अर्थात् पर्याय में व्यक्त हुई, तब प्रगट वस्तु का सत्पना उसे प्रगट हुआ अर्थात् सत् का परमस्वभाव उसे सफल हुआ—इसका नाम समभावरूप आलोचना है, और उसके द्वारा समस्त कर्म मूल में से छिद जाते हैं।

धर्मी जानता है कि यह मेरा आत्मा निरंतर परम स्वभावरूप विद्यमान है; उसमें अंतर्मुख होने पर स्वकीय-स्वाधीन-समभावरूप जो परिणाम प्रगट हुए हैं, वे समस्त संसार को मूल से छेद डालने में समर्थ हैं। अहो, ऐसा मेरा परम स्वभाव मुझमें निरंतर था ही, परंतु उसकी प्रतीति न होने से वह प्रगट नहीं हुआ था; अब उसकी प्रतीति होने पर वह मेरी पर्याय में सफल हुआ है। परमस्वभाव को कारण बनाने से पर्याय में शुद्ध कार्य प्रगट हुआ है, जिससे मेरा परमस्वभाव मुझे सफल हुआ है।

परमस्वभावरूप आत्मा त्रिकाल सत् है। परंतु आनंद की अनुभूतिपूर्वक पर्याय में धर्मी को वह व्यक्त होकर परिणमित हुआ, तब भान हुआ कि 'ऐसा मैं हूँ'। व्यक्त परिणमन हुए बिना शक्तिरूप परमभाव की प्रतीति नहीं होती। इसलिये कहते हैं कि अहा! भव्य जीव को यह परमपंचमभाव सफल हुआ है—सम्यग्दर्शनादि उत्तम फलों की प्राप्ति उसे हुई है। जिसप्रकार मेरु के नीचे का सुवर्ण किस काम का? फल-रहित वृक्ष किस काम का? उसीप्रकार पर्याय में आनंद के व्यक्त अनुभवरूप फल के बिना अज्ञानी को वह परमभाव किस काम का है?—अर्थात् विद्यमान होने पर भी उसके अज्ञान में तो वह अविद्यमान जैसा ही है।

अहा, चैतन्य के परमभाव की कोई अद्भुत महिमा है, वह अज्ञानियों को गम्य नहीं है। अतीन्द्रिय ज्ञानगोचर परमभाव है, उसे अनुभव में लेना, वह परम वीतरागविद्या है। परम आनंदस्वरूप आत्मा अंतर में विद्यमान होने पर भी, जो उसे देखता नहीं, उसके आनंद का अनुभव नहीं करता, और दुःख का ही अनुभव करता है—उसके मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान में तो वह परमभाव अविद्यमान ही है। सूर्य जगमगाते हुए उदित हुआ, परंतु अंधे को क्या? उसे तो वह अविद्यमान ही है। उसीप्रकार अंतर में परम तेज से परिपूर्ण महा चैतन्यसूर्य जगमगा रहा है—परंतु जिसकी अंतर्मुख दृष्टि नहीं है, ज्ञानचक्षु नहीं है, उसे वह चैतन्यसूर्य दिखायी नहीं देता, उसे तो वह अगम्य होने से अविद्यमान जैसा ही है।

अरे, विकल्प में कहीं पंचम परमभाव आ सकता है ? चार भाव सम्बन्धी विकल्पों द्वारा पंचमभाव अगोचर है, वह अंतर्मुख उपशमादि भाव द्वारा अनुभव में आता है। निकट भव्य सम्यग्दृष्टि जीव उसका अंतरावलोकन करते हैं, जिससे उन्हें वह परमभाव सफल हुआ है—सम्यक्त्वादिरूप प्रगट परिणमित हुआ है। अहा, अतीन्द्रियभाव के बिना जिसका अस्तित्व जानने में नहीं आता—ऐसा महान परम स्वभाव मैं हूँ—ऐसा धर्मी जानता है। उसने अंतर के अचिंत्य निधान को प्रत्यक्ष देखा है, उसकी पर्याय में परमात्मा प्रगट हुए हैं।

अहा, लक्ष में लेने योग्य सुंदर वस्तु तो अंतर में मेरा परम स्वभाव है, उसके साथ मैंने लक्ष की डोरी बाँधी है, इसलिये अब अन्यत्र लक्ष स्थिर नहीं होता। पर्याय-पर्याय में परमात्मा के साथ की डोर बाँधकर उसकी लगन लगी, वहाँ धर्मी के आनंद की क्या बात! उसके परमशांत परिणाम में सर्व संसार का मूल छिद गया है। आत्मा का परमभाव जिसके लक्ष में नहीं आया, उसके संसार का मूल किसी प्रकार भी नहीं छिदता।

एक परमभाव को देखा, वहाँ समस्त परभाव छिद गये। ऐसा परम स्वभाव सब जीवों में सदा विद्यमान होने पर भी, वह सम्यग्दृष्टि जीवों को ही अनुभवगोचर है। वे उसके आश्रय से सम्यक्त्वादि कार्य प्रगट करके मोक्ष को साधते हैं। कार्य प्रगट हुआ, उसने कारण को प्रसिद्ध किया कि ऐसे परम स्वभाव के अवलंबन द्वारा यह कार्य हुआ है। शब्दों से या विकल्पों से कहीं कोई कार्य नहीं होता; परम स्वभाव के सन्मुख होने पर ही मोक्षमार्गरूप कार्य सिद्ध होता है। जिसने ऐसा किया उसी को कार्य की सिद्धि हुई, उसी को परम भाव की सफलता हुई।

चैतन्य भगवान का जो परम स्वभाव, उसमें से तो अमृत झरता है, उसमें से तो सम्यग्दर्शनादि आनंदरूप कार्य होते हैं, उसमें से कहीं कर्म के अंकुर नहीं फूटते। कर्म के वृक्ष को तो वह मूल में से छेदनेवाला है। अरे जीव! अपने में विद्यमान ऐसे अमृत-आनंद-चिंतामणि को छोड़कर तू बाह्य में विष के वृक्ष में कहाँ ललचाया ? अरे, चैतन्य के अस्तित्व में तो कर्म या विकार नहीं रहते, परंतु जहाँ ऐसे चैतन्यस्वभाव का आश्रय लिया, वहाँ वे कर्म कर्मों के अस्तित्वरूप भी नहीं रह सकते। हे जीव! अपने ऐसे प्रभु को अंतर में तू क्यों नहीं देखता ? अंतर में भरे हुए अमृत के स्वाद को छोड़कर बाह्य में स्वाद लेने के लिये तू क्यों दौड़ता है ? इस अमृत का स्वाद एकबार तू चख तो सही ! अनादिकालीन तेरा संसार का विष उतर जायेगा और किसी महा अचिंत्य अपूर्व अतीन्द्रिय शांति का स्वाद आयेगा।

अहा, परमस्वभाव तो सर्व जीवों को वस्तुनिष्ठ है, वस्तु का ऐसा स्वभाव ही है—कि जिसका आश्रय करते ही स्वाधीन स्वकीय समता परिणाम प्रगट होता है। ऐसे परिणाम को ही स्वकीय कहा है, रागादिभाव तो परम स्वभाव से बाह्य हैं, उन्हें धर्मी स्वकीयरूप अनुभव नहीं करता। जिसकी सन्मुखता से ऐसा समभाव परिणाम प्रगट होता है, ऐसा परम स्वभाव पंचमभावरूप से आत्मा में सदा विद्यमान है, वह निकट भव्य जीव को श्रद्धा-ज्ञान में साक्षात् वर्तता है, जिससे उसे वह परम स्वभाव सफल हुआ है—पर्याय में अनुभवरूप हुआ है। अज्ञानी को भी वह स्वभाव तो विद्यमान है—परंतु श्रद्धा-ज्ञान के बिना उसे प्रतीति में नहीं आता, अर्थात् विद्यमान होने पर भी उसके लिये अविद्यमान जैसा ही है।

जिसप्रकार यहाँ ऐसा कहा है कि 'परमभाव विद्यमान होने पर भी' मिथ्यादृष्टि को तो वह अविद्यमान जैसा ही है... क्योंकि उसे वह दिखायी नहीं देता।

उसीप्रकार, धर्मात्मा कि जो अपने को परमभावरूप विद्यमान देखता है, उसे 'परभाव विद्यमान होने पर भी' अविद्यमान जैसे ही हैं, क्योंकि परमभाव के अस्तित्व में वह परभाव को नहीं देखता। देखो, परस्पर विरुद्ध दो बातें—

(1) शुद्ध स्वभाव में दृष्टि गई, वहाँ पर्याय उसमें तन्मय होकर रागादि से भिन्न शुद्धभावरूप परिणमित हुई। इसलिये परमभाव का विद्यमानपना पर्याय में भी उसे सफल हुआ है; फिर जो अल्प रागादि परभाव रहे हैं, वे परमभाव से भिन्नरूप ही रहे होने से, धर्मी उनका स्वभाव में समावेश नहीं करते, इसलिये मुझमें तो वे अविद्यमान ही हैं। इसप्रकार धर्मी अपने को परभावों से भिन्न परमभावरूप ही अनुभवता है।

(इसप्रकार परभाव होने पर भी उसे वे अविद्यमान हैं।)

(2) अब, शुद्धस्वभाव जिसकी दृष्टि में आया नहीं है और राग में ही तन्मय होकर अज्ञानरूप परिणमित होता है, उसे तो रागरूप ही अपना विद्यमानपना भासित होता है, राग से भिन्न परमस्वभाव तो उसे दिखायी नहीं देता; इसलिये उसे वह विद्यमान होने पर भी सफल नहीं होता—पर्याय में प्रगट नहीं होता, इसलिये अविद्यमान जैसा ही है। राग से भिन्न कोई सत् अज्ञानी को अपने में दिखायी नहीं देता।

(इसप्रकार परमभाव विद्यमान होने पर भी उसे वह अविद्यमान है।)

अहा, देखो तो दृष्टि का सामर्थ्य।

❀ अंतर्मुख हुई दृष्टि ने परमस्वभाव के बल से सर्व परभावों को असत् कर दिया है।

बहिर्मुख दृष्टि में अज्ञानी ने परभावों की मिथ्यारुचि के बल से अपने महान परम स्वभाव का अस्वीकार कर दिया है।

27वें कलश में कहा था कि बहुत विभाव होने पर भी, शुद्धदृष्टिवाला पुरुष परमतत्त्व में प्रवीण बुद्धि द्वारा, उन सब विभावों से रहित शुद्ध परम स्वभावरूप अपने को अनुभवता हुआ मुक्ति के महा आनंद को प्राप्त करता है।

धर्मात्मा कहता है कि विभाव असत् होने से उनकी हमें चिन्ता नहीं, क्योंकि हमारी परिणति उनसे हटकर परमस्वभाव की ओर ढली है। परमस्वभाव की अनुभूति में तो विभाव असत् ही हैं। इसप्रकार परभाव होने पर भी अंतर्दृष्टिवाला सम्यग्दृष्टि जीव अपने को एक परम शुद्ध ज्ञानवस्तुरूप ही भाता है, इसलिये अपना परमभाव उसे सफल हुआ है, वह आसन्न भव्य है।

घर में अटूट संपत्ति हो परंतु उसका उपभोग न करे तो वह किस काम की? उसीप्रकार स्वभाव में शक्ति होने पर भी उसके सन्मुख होकर पर्याय में प्रगट न करे तो वह किस काम की? एक नगरसेठ की कहानी है कि उसके घर में अत्यंत मूल्यवान रत्नों का भंडार होने पर भी अनंत लोभ के वश एक लकड़ी लेने के लिये वह पानी में बह रहा था। उसीप्रकार नगरसेठ की भाँति यह आत्मा तो दुनिया का सेठ है, जगत में श्रेष्ठ है, जिसके गृह में अनंत गुण के महारत्नों का भंडार है, परंतु उसे भूलकर राग में-देह में मूर्च्छित अज्ञानी अचिंत्य निज-निधान का उपभोग नहीं कर सकता। अहा, मेरा परम स्वभाव मुझमें सदा विद्यमान है—नित्य है, उस नित्यता का निर्णय करते ही निर्विकल्पता हो जाती है। विकल्प में स्थित रहकर नित्यस्वभाव का निर्णय नहीं हो सकता; उदयादि चार भावों के लक्ष से पंचम परमभाव प्रतीति में नहीं आ सकता, परम स्वभाव को प्रतीति में लेनेवाला भाव स्वयं उपशम, क्षयोपशम व क्षायिकरूप है, परंतु उन विशेष भावों के भेद पर उसका लक्ष नहीं है, पर्यायभेद के आश्रय से पंचमभाव अगोचर है। पर्याय अंतरस्वभावोन्मुख हुई, तब उस स्वाधीन परिणाम द्वारा पंचमभाव अनुभवगोचर हुआ। भव्य जीवों को ऐसे अनुभव द्वारा परमभाव की सफलता हुई अर्थात्

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप फलों की प्राप्ति हुई। विषैले फलोंवाला उनका कर्मवृक्ष छिंद गया, और सम्यक्त्वादि अमृत फलोंवाले चैतन्यवृक्ष की वृद्धि हुई है।—इसका नाम आलोचना है, यह मोक्ष का मार्ग है; यह आनंदमय स्वगृह में सादि-अनंत काल के लिये गृहप्रवेश है।

जगत में सर्वश्रेष्ठ कौन?—कि मेरा परमस्वभाव ही सर्वश्रेष्ठ है।—केवलज्ञानादि भी उसी के आश्रय से होते हैं। ऐसे परमस्वभाव को यहाँ प्रगट किया है। अहो, यह तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव के शास्त्र हैं! इनकी क्या बात! तीर्थंकर भगवान ने दिव्यध्वनि में जो अर्थरूप से कहा है, तथा गणधर भगवान ने जो ग्रहण करके श्रुतरूप शास्त्रों में गूँथा है, और उनकी परंपरा में वीतरागी संतों ने अनुभव करके जो कहा है—वही यह परम तत्त्व है। ऐसे तत्त्व का श्रवण महा भाग्य से मिलता है। 'अहो, ऐसे परम भावरूप मेरा आत्मा है'—इसप्रकार स्वसन्मुख होकर जिसने श्रद्धा में-ज्ञान में-अनुभव में लिया है, वह जीव अत्यंत आसन्न भव्य धर्मात्मा है, परमस्वभाव का विद्यमानपना उसे सफल हुआ है।—जैनशासन का तात्पर्य वीतरागभाव है, वह भी ऐसे परमभाव के आश्रय से ही प्रगट होता है।

परमस्वभाव तो आनंद का वृक्ष है, उसमें संसार नहीं फलता। संसार को तो वह मूल में से छेदनेवाला है। परम भाव के आश्रय से तो आनंद की उत्पत्ति होती है, उसके आश्रय से शुभाशुभ कर्म-संसार उत्पन्न नहीं होता। शुभाशुभ कर्म का प्रेम तो चार गति के कड़वे फल देनेवाला विषवृक्ष है। अहा, अनंतकाल तक आनंद ही प्राप्त होता रहे—ऐसा कल्पवृक्ष तू स्वयं है, तेरा परम स्वभाव स्वयं आनंद का कल्पवृक्ष है; एक क्षण भी उसे देखने पर, उसके आश्रय से संसार छिद जायेगा और आनंद के फल सहित अल्पकाल में मोक्षदशा प्रगट होगी।

श्री पंडित दीपचंदजी साधर्मीकृत

# ज्ञान-दर्पण

[ अंक 328 से आगे ]

जगवासी अंध यौ तौ बंध्यौ है करमसेती, फंद्यौ परभावसों अनादिकौ कलंक है।
नर देव तिरजँच नारकी भयौ जहां, अहंबुद्धि ही मैं डोल्यों अति निसंक है॥
करम की रीति विपरीति ही सौं प्रीति जातै, राग दोष धारि धारि भयौ बहु बंक है।
करम इलाजमैं न काज कोऊ सिद्ध भयौ, अब तू पिछान जीव चेतना कौ अंक है॥52॥

स्वपर विवेक धारि आतम स्वरूप पावै, चिदानंद मूरति मैं जेई लीन भए हैं।
परसेती न्यारौ पद अचल अखंड रूप, परम अनूप आप गुण तेई लए हैं॥
तिहुंलोक सार एक सदा अविकार महा, ताकौ भयौ लाभ तातैं दोष दूरि गए हैं।
अतुल अबाधित अनंत गुणधाम ऐसौ, अभिराम अखैपद पाय थिर गए हैं॥53॥

राग दोष मोह जाकौ मूल है असुभ सुभ, ऐसे जोग भावमैं अनादि लगि रह्यो है।
भेदज्ञान भावसेती जोग कौं निरोधि अति, आतम लखावही मैं निज सुख लह्यौ है॥
परद्रव्य इच्छा परत्याग भयौ जाही समै, आप है अनंत गुणमई जाही गह्यौ है।
कारण सुकारिजकौ सिद्धि करि याहि भांति, सासतौ सदव रहै देव जिन कह्यौ है॥54॥

आपके लखया परभाव के नखया रस, अनुभौ चखया चिदानंद कौं चहतु हैं।
परम अनूप चिदरूपकौ सरूप देखि, पेखैं परमातमा को निज मैं महतु हैं॥
ज्ञान उर धारि मिथ्यामोह कौ निवारी सब, डारि दुख दोष भव पार जे लहतु हैं।
लोक के सिखरि सुख सासतौं सुथान लहि, लोकालोक लखिकैं सरूपमैं रहतु हैं॥55॥

परपद-त्यागि आप पद माहिं रति मान, जगी ज्ञान जोति भाव स्वसंवेद वेदी है।
अनुभौ सरूप धारि परवाहरूप जाकै, चाखत अखंडत रस भ्रम को उछेदी है॥
त्रिकाल संबंधि जब द्रव्य-गुण-परजाय, आप प्रतिभासै चिदानंदपद भेदी है।
महिमा अनंत जाका देव भगवंत कहैं, सदा रहै काहू पै न जाय सो न खेदी है॥56॥

[क्रमशः]

# सम्यग्दर्शन की रीति

[ श्री समयसार गाथा 144 पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

जो जीव जिज्ञासु होकर स्वभाव समझने आया है, वह सुख लेने और दु:ख मिटाने आया है। सुख अपना स्वभाव है, और जो दु:ख है, वह क्षणिक विकृति है; इसलिये उसका अभाव हो सकता है। वर्तमान में दु:ख-अवस्था का अभाव करके सुखरूपी अवस्था स्वयं प्रगट कर सकता है; इतना तो जो सत् समझने आया है, उसने स्वीकार कर ही लिया है। आत्मा को अपने भाव में ज्ञान का पुरुषार्थ करके विकाररहित ज्ञानस्वरूप का निर्णय करना चाहिए। वर्तमान में विकार होने पर भी विकाररहित स्वभाव की श्रद्धा कर सकते हैं, अर्थात् उस विकार और दु:ख से रहित अपना स्वरूप सुखमय है, ऐसा निर्णय करके सुख का अनुभव हो सकता है।

## पात्र जीव का लक्षण

जिज्ञासु जीव को स्वरूप प्रगट करने के लिये प्रथम ही सत्समागमरूप ज्ञानक्रिया शास्त्रों ने बतलायी है, इसलिये श्रुतज्ञान से आत्मा का निर्णय करने को कहा है। कुदेव-कुगुरु तथा कुशास्त्र की ओर का आदर और उस ओर का झुकाव तो जिज्ञासु जीव को छूट ही जाता है तथा विषयादि परवस्तु में सुखबुद्धि चली जाती है; सब ओर से रुचि हटकर स्वोन्मुख रुचि हो तथा देव-गुरु-शास्त्र को यथार्थरूप से पहिचानकर उनका आदर करे, और उनके बताये हुए ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे—यह सब 'स्वभाव के लक्ष से' हुआ हो तो वह जीव पात्र है, ऐसा कहा जा सकता है। इतनी पात्रता वह कहीं साक्षात् सम्यग्दर्शन नहीं, सम्यग्दर्शन तो चैतन्यस्वभाव में उपयोग एकाग्र करके निर्विकल्प प्रतीत करना है। ऐसा सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये पात्र जीव को क्या करना चाहिये, वह इस समयसार शास्त्र में स्पष्ट दर्शाया है।

## सम्यग्दर्शन के लिये समयसार में बतलायी हुई क्रिया अर्थात् ज्ञानक्रिया

प्रथम श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करके, पश्चात् आत्मा की प्रगट प्रसिद्धि के लिये, परपदार्थ की प्रसिद्धि की कारणभूत जो इंद्रियों और मन द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ, उन्हें मर्यादा में लेकर मतिज्ञान-तत्त्व को (-मतिज्ञान के स्वरूप को)

आत्मसन्मुख करना; तथा जो नाना प्रकार के नयपक्षों के अवलंबन से होनेवाले अनेक विकल्पों के द्वारा आकुलता उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियाँ उन्हें भी मर्यादा में लाकर श्रुतज्ञान-तत्त्व को भी आत्मसन्मुख करना; इसप्रकार जीव जब ज्ञान को विकल्प से भिन्न करके आत्मसन्मुख करता है, उसी समय वह अत्यंत विकल्प रहित होकर, तत्काल निजरस से ही प्रगट होता हुआ, आदि, मध्य और अंत से रहित अनाकुल, केवल एक, संपूर्ण ही विश्व पर मानों तैरता हो, ऐसे अखंड प्रतिभासमय, अनंत विज्ञानघन परमात्मारूप समयसार का अनुभव करता है और उसी समय आत्मा सम्यक् दिखाई देता है (अर्थात् श्रद्धा में आता है) और ज्ञान होता है; इसलिये समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

(समयसार, गाथा-144 टीका) उसका यह स्पष्टीकरण होता है।

## श्रुतज्ञान किसे कहते हैं ? श्रुत का लक्षण अनेकांत

'प्रथम श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिये'—ऐसा कहा है। श्रुतज्ञान किसे कहते हैं ? सर्वज्ञ भगवान का कहा हुआ श्रुतज्ञान अस्ति-नास्ति द्वारा वस्तुस्वरूप को सिद्ध करता है, 'अनेकांतस्वरूप वस्तु स्व से है और पर से नहीं' इसप्रकार जो वस्तु को स्वतंत्र सिद्ध करता है, वह श्रुतज्ञान है।

एक वस्तु स्व से है और वह वस्तु अनंत परद्रव्यों से भिन्न है, इसप्रकार पर से भिन्नता दर्शाकर स्वोन्मुख होने को कहते हैं—वह श्रुतज्ञान का लक्षण है। वस्तु स्व से है और पर से नहीं—ऐसा कहकर श्रुतज्ञान से वस्तु की परिपूर्णता सिद्ध की है, और स्वाश्रय करने को कहा है। श्रुतज्ञान से दर्शाये हुए ऐसे स्वरूप को समझकर ज्ञानस्वभाव का निश्चय करना चाहिये।

ज्ञानस्वभावी अपना आत्मा अनंत परवस्तु से भिन्न है—ऐसा सिद्ध होने से अपने द्रव्य-पर्याय में ही देखने का रहा। अपना त्रिकाली द्रव्य, वह एक समय के विकार जितना नहीं, अर्थात् विकार क्षणिक पर्यायरूप है, परंतु त्रैकालिक स्वरूप में विकार नहीं—ऐसे विकाररहित ज्ञानस्वभाव की सिद्धि भी अनेकांत द्वारा ही होती है। भगवान के उपदेशित शास्त्रों की महत्ता अनेकांत से ही है, वे ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करवाते हैं। सर्वज्ञ भगवान ने भी अपना कार्य परिपूर्ण किया और अन्य का कुछ भी नहीं किया, क्योंकि वे तत्त्व स्व से हैं और पर से नहीं, इसलिये वे किसी अन्य का कुछ भी नहीं कर सकते। प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न स्वतंत्र है, कोई

किसी का कुछ भी नहीं कर सकता—ऐसा मानना ही भगवान के शास्त्रों की पहिचान है, वही श्रुतज्ञान है। इतना स्वीकार करना, वह तो अभी स्वरूप को समझने की पात्रता कहलाती है।

जैनधर्म अर्थात् आत्मा का वीतरागस्वभाव, उसकी प्रभावना धर्मी जीव करते हैं। आत्मा को जाने बिना आत्मा के स्वभाव की वृद्धिरूप प्रभावना किसप्रकार हो? प्रभावना करने का विकल्प उठता है, वह भी पर के कारण नहीं। दूसरे से अपने में कुछ भी होता है—ऐसा कहना, वह जैनशासन की मर्यादा नहीं। जैनशासन तो वस्तु को स्वतंत्र स्वाधीन परिपूर्ण स्थापित करता है।

आत्मा के स्वभाव को पहिचानकर, कषायभाव से अपने आत्मा की रक्षा करना—ऐसा भगवान का उपदेश है; वही परमार्थ दया है। जीव अपने आत्मा का निर्णय किये बिना क्या करेगा? भगवान के श्रुतज्ञान में तो ऐसा आया है कि तू अपने से परिपूर्ण वस्तु है। प्रत्येक तत्त्व अपने से ही स्वतंत्र है, किसी तत्त्व को दूसरे तत्त्व का आश्रय नहीं।—इसप्रकार वस्तु के स्वरूप की भिन्नता समझकर स्वाश्रय से वीतरागभाव प्रगट करना, वह अहिंसा है; और एक-दूसरे का कुछ कर सकता है, इसप्रकार वस्तु को पराधीन मानकर कर्तृत्वबुद्धि और राग-द्वेष करना वह हिंसा है।

## आनंद प्रगट करने की भावना हो वह क्या करे?

जगत में जीव सुख चाहते हैं, सुख कहो कि धर्म कहो। धर्म करना है अर्थात् आत्मशांति चाहते हैं, आत्मा की अवस्था में दु:ख का नाश करके वीतरागी आनंद प्रगट करना है। यह आनंद ऐसा होना चाहिये कि जो स्वाधीन हो; जिसके लिये पर का अलवंबन न हो। ऐसा आनंद प्रगट करने की जिसको यथार्थ भावना हो, वह जिज्ञासु कहलाता है। अपना पूर्णानंद प्रगट करने की भावनावाला जिज्ञासु प्रथम तो यह देखे कि ऐसा पूर्णानंद किन्हें प्रगट हुआ है? और किसप्रकार प्रगट हुआ है। अपने को अभी वैसा आनंद प्रगट नहीं, क्योंकि यदि अपने को वैसा आनंद प्रगट होता तो उसे प्रगट करने की भावना न होती, अस्तु अपने को अभी वैसा आनंद प्रगट नहीं हुआ है परंतु अपने को जिसकी भावना है, वैसा आनंद अन्य किसी को प्रगट हुआ है, और जिनको वह आनंद प्रगट हुआ है, उनके पास से स्वयं उस आनंद को प्रगट करने के लिये सच्चा मार्ग समझना चाहता है।—इसलिये इसमें सच्चे निमित्तों की पहिचान तथा

अपनी पात्रता, दोनों आ जाते हैं। इतना करे, वहाँ तक अभी जिज्ञासु है।

अपनी पर्याय में अधर्म—अशांति है, उसे मिटाकर धर्म—शांति प्रगट करना है। वह शांति स्वाश्रित एवं परिपूर्ण चाहता है। ऐसी जिसकी जिज्ञासा है, वह प्रथम ऐसा निश्चय करता है कि—मैं एक आत्मा, अपना परिपूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूँ, तो वैसा सुख किसी को प्रगट होना चाहिये; यदि परिपूर्ण सुख-आनंद प्रगट नहीं तो दु:खी कहने में आता है। जिसको परिपूर्ण तथा स्वाधीन आनंद प्रगट हुआ है, वही परिपूर्ण सुखी है; ऐसे सर्वज्ञभगवान हैं—इसप्रकार जिज्ञासु अपने ज्ञान में सर्वज्ञता का निर्णय करता है। परंतु कर्ता-हर्ता की बात तो है ही नहीं; जब पर से किंचित् संबंध छूटा, तब तो आत्मा की जिज्ञासा हुई। वह तो पर से हटकर अब जिनको अपना हित करने की जिज्ञासा जागृत हुई है, ऐसे जिज्ञासु जीवों की बात है, परद्रव्यों के ओर की सुखबुद्धि और रुचि हटाकर स्वभाव की रुचि की पात्रता है।

दु:ख का मूल भूल है। जिसने अपनी भूल से दु:ख उत्पन्न किया है, वह अपनी भूल मिटाये तो उसका दु:ख मिट सकता है... अन्य किसी ने भूल नहीं करवायी, इसलिये दूसरा कोई अपना दु:ख टालने में समर्थ नहीं है। अपनी भूल मिटाने के लिये अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये पात्र जीव को प्रथम क्या करना ? वह कहते हैं।

## श्रुतज्ञान का अवलंबन ही प्रथम क्रिया

जो आत्मकल्याण करने के लिये तैयार हुआ है, ऐसे जिज्ञासु को उद्यम द्वारा अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना चाहिये। आत्मकल्याण अपने आप नहीं हो जाता परंतु अपने ज्ञान में रुचि और पुरुषार्थ से आत्मकल्याण होता है। अपना कल्याण करने के लिये जिनको परिपूर्ण कल्याण प्रगट हुआ है, वे कौन हैं, वे क्या कहते हैं, उन्होंने प्रथम क्या किया था—उसका अपने ज्ञान में निर्णय करना चाहिये; अर्थात् सर्वज्ञ का स्वरूप जानकर उनके कहे हुए श्रुतज्ञान के अवलंबन से अपने आत्मा का निर्णय करना चाहिये; यह प्रथम कर्तव्य है। किसी पर के अवलंबन से धर्म प्रगट नहीं होता; जब स्वयं अपने पुरुषार्थ से समझता है, तब उसमें निमित्तरूप सच्चे देव-गुरु ही होते हैं।

इसप्रकार प्रथम निर्णय यह हुआ कि कोई पूर्ण पुरुष परिपूर्ण सुखी है और परिपूर्ण ज्ञाता है; यही पुरुष पूर्ण सुख का सत्य मार्ग कह सकता है; और स्वयं उसे समझकर अपना पूर्ण सुख

प्रगट कर सकता है और जब स्वयं समझे, तब सच्चे देव-शास्त्र ही निमित्तरूप होते हैं। जिनको स्त्री, पुत्र, पैसा आदि सांसारिक निमित्तों की ओर तीव्र प्रीति है और धर्म के निमित्त देव-गुरु-शास्त्र ने प्रीति प्रीति नहीं है, उनको श्रुतज्ञान का अवलंबन प्रगट नहीं होगा; और श्रुतज्ञान के अवलंबन बिना आत्मा का निर्णय नहीं होगा। इसलिये जो विषयों में सुख मानते हैं, या कुदेवादि को मानते हैं, उनको आत्मनिर्णय नहीं होत।

यथार्थ धर्म कैसे हो, उसके लिये जिज्ञासु जीव प्रथम पूर्ण ज्ञानी ऐसे भगवान, साधक, संत, गुरु तथा उनके कहे हुए शास्त्रों के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने का उद्यमी होता है, और फिर ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके अंतर्मुख होकर साक्षात् अनुभव करता है;—वह धर्म की कला है। जगत धर्म की कला को नहीं समझता; यदि धर्म की एक कला को समझ जाये तो उसका मोक्ष हुए बिना न रहे।

जिज्ञासु जीव प्रथम सुदेवादि का और कुदेवादि का निर्णय करके कुदेवादि को छोड़ता है तथा सत्देव-गुरु की ऐसी प्रीति हुई है कि सत्पुरुष जो आत्मस्वरूप दर्शाते हैं, उसे समझने का ही लक्ष है, इसलिये तीव्र अशुभ से तो वह दूर हो गया है। जब तक सांसारिक रुचि से विमुख न हो, तब तक वीतरागी श्रुत के अवलंबन से स्थिर नहीं रह सकता।

## धर्म कहाँ है और कैसे हो ?

अनेक जिज्ञासुओं को प्रश्न उठता है कि धर्म के लिये प्रथम क्या करना ? उसके उत्तर में ज्ञानी कहते हैं कि अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करो। बाह्य में कहाँ आत्मा का धर्म नहीं। धर्म तो अपना स्वभाव है। धर्म पराधीन नहीं। किसी के अवलंबन से धर्म नहीं होता, धर्म किसी को दिया नहीं जाता, परंतु अपने आत्मा के अनुभव से ही धर्म होता है। जो अपने पूर्णानंद को चाहते हैं, उनको पूर्ण आनंद का स्वरूप क्या है, वह निश्चय करना चाहिये। जो आनंद मैं चाहता हूँ, वह पूर्ण अबाधित चाहता हूँ, इसलिये किसी आत्मा ने वैसी पूर्णानंददशा प्राप्त की है और उन्हें पूर्णानंददशा में ज्ञान भी पूर्ण ही है; इसप्रकार जिनको पूर्णानंद प्रगट हुआ है, ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं, उनका तथा वे क्या कहते हैं, उसका जिज्ञासु को निर्णय करना चाहिए। इसीलिए कहा है कि प्रथम श्रुतज्ञान के अवलंबन द्वारा ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करो। उसमें उपादान-निमित्त की संधि रही हुई है। ज्ञानी कौन हैं, सत् बात कौन कहते हैं—इन

सबका निर्णय करने के लिये निवृत्ति लेना चाहिये। जीव को यदि स्त्री-कुटुंब-लक्ष्मी के राग में और संसार की रुचि में मंदता न हो तो वह सत्समागम के लिये निवृत्ति ले नहीं सकता। श्रुत का अवलंबन लेने को कहा, उसमें अशुभभाव का तो त्याग हो जाता है। तथा सच्चे निमित्तों की पहिचान भी हो जाती है।

## सुख का उपाय : ज्ञान तथा सत्समागम

हे जीवों! तुम सुख चाहते हो? यदि तुम सुख की इच्छा रखते हो तो प्रथम सुख कहाँ है और कैसे प्रगट हो सकता है, उसका निर्णय करो। सुख कहाँ है और कैसे प्रगट हो, उसके ज्ञान बिना कोई तप करके मर जाये तो भी सुख नहीं ले सकता, धर्म नहीं हो सकता। सर्वज्ञ भगवान के कहे हुए श्रुतज्ञान के अवलंबन द्वारा यह निर्णय होता है और वह निर्णय करना ही प्रथम धर्म है। जिसे धर्म करना हो, वह धर्मी को पहिचाने, तथा वे क्या कहते हैं, उसका निर्णय करने के लिये सत्समागम करे। सत्समागम से जिसको श्रुतज्ञान का अवलंबन हुआ कि—अहो! परिपूर्ण आत्मवस्तु ही उत्कृष्ट महिमावंत है, अपने ऐसे परमस्वरूप को मैंने अनंत काल में सुना भी नहीं,—ऐसा होने पर उसको स्वरूप की रुचि होती है और सत्समागम का रंग लगता है, इसलिये उसे कुदेवादि या संसार के प्रति रंग उड़ जाता है, तथा राग का रंग भी उड़ जाता है और ज्ञानस्वभाव की ओर झुकाव होता है।

यदि ज्ञानस्वभावी वस्तु की महिमा जाने तो उसकी रुचि जागृत होती है और उस ओर का पुरुषार्थ बढ़ता है। आत्मा अनादि से स्वभाव को भूलकर परभावरूपी परदेश में परिभ्रमण करता है, स्वरूप से बाह्य संसार में परिभ्रमण करते-करते जीव को कोई महा भाग्य से परम पिता सर्वज्ञ परमात्मा और परम हितकारी गुरु का समागम हुआ, वे पूर्ण हित का उपदेश देते हैं तथा आत्मा के स्वरूप की पहिचान कराते हैं। अहा, अपना स्वरूप सुनने से किस जिज्ञासु को उल्लास नहीं आयेगा? आता ही है। आत्मस्वभाव की बात सुनते ही जिज्ञासु जीवों को उसकी महिमा आ जाती है... अहो! अनंत काल से ऐसा अपूर्व ज्ञान प्राप्त नहीं किया, स्वरूप से बाह्य परभाव में भ्रमण करके अनंतकाल से दु:खी हो रहे हैं, यदि ऐसा अपूर्व ज्ञान पूर्व में किया होता तो वर्तमान में ऐसा दु:ख नहीं भोगता पड़ता। इसप्रकार स्वरूप की रुचि हो, रस आये, महिमा जागृत हो तो स्वरूप का निर्णय करके स्वसन्मुख होता है।

इसप्रकार जिन्हें धर्म करके सुखी होना हो, उन्हें प्रथम श्रुतज्ञान का अवलंबन लेकर आत्मा का निर्णय करना चाहिये। भगवान के कहे हुए श्रुतज्ञानरूपी रस्सी को दृढ़ता से पकड़ने पर उसके अवलंबन से स्वरूप का अनुभव हो जाता है। श्रुतज्ञान के अवलंबन का अर्थ क्या? जिसको सच्चे श्रुतज्ञान का ही रस है, अन्य कुश्रुत का रस नहीं, संसार की बातों का रस दूर हो गया और श्रुतज्ञान का तीव्र रस हुआ है; इसप्रकार श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिये जो तैयार हुआ है, उसे अल्पकाल में आत्मानुभव होगा। जिसके हृदय में संसार की तीव्र रुचि होती है, उसे तो ऐसे परम शांत स्वभाव की बात समझने की पात्रता नहीं है। यहाँ जो 'श्रुत का अवलंबन' कहा है, वह अवलंबन तो स्वभाव के लक्ष से है। समयसारजी में अप्रतिहत शैली से कथन है। जिसने ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के लिये श्रुत का अवलंबन लिया है, वह आत्मस्वभाव का निर्णय और अनुभव करता ही है, पीछे नहीं हटता, ऐसी बात ही समयसारजी में ली है। यहाँ संसार की रुचि कम करके आत्मा का निर्णय करने के लक्ष से आया है, उसे श्रुतज्ञान के अवलंबन से निर्णय होगा ही; निर्णय न हो, ऐसा नहीं होता। साहूकार के बहीखाता में दिवालिया की बात नहीं होती, उसीप्रकार यहाँ दीर्घसंसार की बात नहीं है। यहाँ तो अल्पकाल में मोक्ष जानेवाले जीवों की ही बात है। सबकी बातों में हाँ जी हाँ करे, परंतु एक भी बात का अपने ज्ञान में निर्णय न करे, ऐसे 'ध्वजपुच्छ सरीखे' जीवों की बात यहाँ नहीं ली है, यह तो टंकोत्कीर्ण बात है। जो अनंतकाल के संसार का अंत लाने के लिये पूर्ण स्वभाव के लक्ष से प्रारंभ करने चला है, ऐसा जीव वापिस नहीं लौटता। यहाँ ऐसे जीवों की ही बात है। यह तो अप्रतिहत मार्ग है। पूर्णता के लक्ष से प्रारंभ ही सच्चा प्रारंभ है।

## जिस ओर की रुचि, उस ओर का मंथन

इसमें एक ही बात को आगे-पीछे करके पुनः पुनः कहा गया है; इससे रुचिवान जीव को अरुचि नहीं होती। जिसप्रकार नाटक की रुचिवाला नाटक में 'वन्समोर' करके भी अपनी रुचि की वस्तु को बारंबार देखता है; उसीप्रकार जिन भव्य जीवों को आत्मा की रुचि हुई और आत्मा का हित करना चाहते हैं, वे खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-बैठते, विचारते हुए निरंतर स्वभाव के लक्ष से श्रुत का ही सदा अवलंबन करते हैं। उसमें किसी काल या क्षेत्र की मर्यादा नहीं करते। श्रुतज्ञान की रुचि तथा जिज्ञासा इतनी दृढ़ हुई है कि कभी वह च्युत नहीं होती।

किसी समय अवलंबन करना और फिर छोड़ देना, ऐसा नहीं कहा, परंतु श्रुतज्ञान के अवलंबन द्वारा आत्मनिर्णय करने को कहा है। जिसको सच्चे तत्त्व की रुचि हुई है, वह अन्य सर्व कार्यों की प्रीति गौण करके अपनी परिणति को आत्मा की ओर झुकाता है।

**प्रश्न :** क्या सत् की प्रीति हो, इसलिये खाना-पीना और धन्धा-व्यापार सब छोड़ देना चाहिये ?—श्रुतज्ञान सुनते ही रहना, परंतु सुनकर करना क्या ?

**उत्तर :** सत् की प्रीति होने पर खाने-पीने का सब राग छूट ही जाये, ऐसा नियम नहीं परंतु उस ओर की रुचि तो अवश्य कम हो जाती है। पर में सुखबुद्धि नहीं रहती और सबमें एक आत्मा ही मुख्य होता है; इसलिये निरंतर आत्मा की ही रुचि रहती है। 'मात्र श्रुतज्ञान सुनते ही रहो' ऐसा नहीं कहा, परंतु श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का निर्णय करना; श्रुतज्ञान के अवलंबन की धुन लगाकर, देव, गुरु, शास्त्र, धर्म, निश्चय, व्यवहार, द्रव्य, पर्याय आदि सब पहलुओं को यथावत् जानकर एक ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिये; उसमें भगवान कैसे हैं, उनके शास्त्र कैसे हैं और वे क्या कहते हैं, इन सबका अवलंबन ऐसा निर्णय करवाता है कि तू ज्ञान है; आत्मा ज्ञानस्वरूपी ही है, ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ तू नहीं कर सकता।

देव-गुरु-शास्त्र कैसे होते हैं और उन देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानकर उनका अवलंबन लेनेवाला स्वयं क्या समझा है, वह इसमें बतलाया है। हे जीव! तू ज्ञानस्वभावी आत्मा है, तेरा स्वभाव जानने का ही है, किसी पर का करना या पुण्य-पाप के भावों को करना, वह तेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा जो कहते हैं, वे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र हैं, तथा इसप्रकार जो समझता है, वही देव-गुरु-शास्त्र के कहे हुए श्रुतज्ञान को समझा है। परंतु जो राग से धर्म मनवाते हैं; शरीर की क्रिया आत्मा करता है, ऐसा मनवाते हैं; जड़ कर्म आत्मा को हैरान करते हैं, ऐसा कहते हों, वे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र नहीं, क्योंकि वे सच्चे वस्तुस्वरूप के जाननेवाले नहीं और विपरीत स्वरूप बतलाते हैं।

## श्रुतज्ञान के अवलंबन का फल आत्म-अनुभव

मैं ज्ञायकस्वरूपी आत्मा हूँ, पुण्य-पाप की वृत्तियाँ मेरा ज्ञेय हैं, वे मेरे ज्ञान से भिन्न हैं—ऐसा यथार्थ निर्णय-प्रथम विचार द्वारा जिज्ञासु जीव करते हैं। वर्तमान में ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव नहीं हुआ, उसके पहले की यह बात है। जिन्होंने स्वभाव के लक्ष से

श्रुतज्ञान का अवलंबन लिया है, वे अल्प समय में ही आत्म-अनुभव करेंगे। प्रथम विचार में ऐसा निश्चय किया कि मैं पर से तो भिन्न हूँ, पुण्य-पाप भी मेरा स्वरूप नहीं, अपने शुद्धस्वभाव के सिवा देव-गुरु-शास्त्र का भी अवलंबन मुझे नहीं है; मैं तो स्वाधीन ज्ञानस्वभावी हूँ; ऐसा जिसने निर्णय किया उसे ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव अवश्य होगा।

'पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा जिसने निर्णय द्वारा स्वीकार किया है उसका परिणमन पुण्य-पाप की ओर से हटकर ज्ञायकस्वभाव की ओर होगा 'मैं ज्ञानस्वभावी हूँ'—ऐसा जिसने आत्मा का निर्णय किया उसे पुण्य-पाप का आदर नहीं रहता, इसलिये वह अल्पकाल में पुण्य-पापरहित ज्ञानस्वभाव का अनुभव करके तथा उसमें स्थिरता करके वीतराग होकर पूर्ण परमात्मा हो जायेगा। परिपूर्ण की ही बात है; प्रारंभिकता हुई है, वह परिपूर्ण को लक्ष में लेकर ही हुई है। श्रवण करानेवाला और श्रवण करनेवाला दोनों को पूर्णता का ही ध्येय है। जो पूर्ण स्वभाव बतलाते हैं—ऐसे देव-गुरु-शास्त्र तो पवित्र ही हैं, और उस स्वभाव को जिसने स्वीकार किया, उसका भी परिणमन पवित्रा की ओर हुआ है। पूर्णता को स्वीकार करनेवाला पूर्ण ही होगा। इसप्रकार उपादान-निमित्त की संधि है।

## सम्यग्दर्शन होने के पूर्व...

आत्मा का आनंद प्रगट करने की पात्रता का स्वरूप कहा जाता है। भाई! तुझे धर्म करना है ना? तो तू अपने को पहिचान। प्रथम सच्चा निर्णय करने की बात है। अरे, तू कौन है? क्या क्षणिक पुण्य-पाप को करनेवाला ही तू है? नहीं-नहीं, तू तो ज्ञान करनेवाला ज्ञानस्वभावी है। पर का ग्रहण-त्याग करनेवाला तू नहीं, जाननेवाला ही तू है। ऐसा निर्णय ही धर्म की प्रथम सीढ़ी (सम्यग्दर्शन) का उपाय है। प्रारंभ में अर्थात् सम्यग्दर्शन से पूर्व ऐसा निर्णय न करे तो वह पात्रता में भी नहीं है। अपना सहज स्वभाव तो जानने का है—ऐसा श्रुतज्ञान के अवलंबन से जो निर्णय करता है, वह पात्र जीव है। जिनको पात्रता प्रगट हुई है, वह आगे बढ़कर अनुभव अवश्य करेंगे। सम्यग्दर्शन करने के लिये प्रथम जिज्ञासु जीव, धर्मोंमुख जीव, सत्समागम को प्राप्त जीव श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करते हैं।

मैं ज्ञानस्वभावी ज्ञाता हूँ; ज्ञेय में कहीं राग-द्वेष करके अटके, ऐसा मेरा ज्ञानस्वभाव नहीं। पर कैसा भी हो, मैं तो उसका मात्र जाननेवाला हूँ, मेरा ज्ञातास्वभाव पर का कुछ भी नहीं

करता। जिसप्रकार मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, उसीप्रकार जगत के सर्व आत्मा ज्ञानस्वभावी हैं; जो स्वयं अपने ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चूक गये हैं, वे दु:खी हैं, वे स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करे तो उनका दु:ख दूर हो सकता हैं, मैं किसी को बदलने में समर्थ नहीं हूँ, पर जीवों का दु:ख मैं मिटा नहीं सकता, क्योंकि उन्होंने दु:ख अपनी भूल से किया है; वे अपनी भूल मिटाये तो उनका दु:ख दूर हो सकता है। किसी पर के लक्ष से रुक जाना ज्ञान का स्वभाव नहीं।—ऐसा ज्ञानस्वभाव का निर्णय करना, वह सम्यक्त्व की पात्रता है।

## जिज्ञासु शिष्य का निर्णय

अपने ज्ञान में अपनी वस्तु कैसे गुप्त रह सकती है? अन्य विचार छोड़कर, सत्यस्वरूप को लक्ष में लेकर शिष्य प्रथम तो उसका निर्णय करता है, पश्चात् उस निर्णय के बल से अनुभव होता है। चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति के लिये शिष्य स्वोन्मुख होने का उद्यम कर रहा है, राग की अपेक्षा बिना ज्ञान में सीधा आत्मा को ही ग्रहण करना चाहता है अर्थात् आत्मा को स्वसंवेदनप्रत्यक्ष करना चाहता है, इसलिये निर्णय किया है कि मेरा स्वभाव ही स्वसंवेदनप्रत्यक्ष होने का है, उसमें बीच में राग का आवरण नहीं रह सकता। आत्मा को प्रत्यक्ष करने की शक्ति राग में नहीं है, ज्ञान में ऐसी शक्ति है; इसलिये स्वानुभव के लिये राग का आश्रय लेना पड़े, ऐसा नहीं है। इतने निर्णय तक आने के पश्चात् साक्षात् अनुभव के लिये शिष्य का उद्यम है, उसका सरस वर्णन आचार्यदेव ने समयसार में किया है।

अज्ञानी का काल तो परद्रव्य की ही चिंता में चला जाता है, स्वद्रव्य क्या है उसके विचार का भी उसे अवकाश नहीं है। यहाँ तो स्वद्रव्य की चिंता में चित्त को लगाया है, ऐसे जिज्ञासु की बात है।

# शुद्ध आत्मा ही उपादेय है

[श्री नियमसार गाथा 38 तथा 50 पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

यह शुद्धभाव अधिकार की पहली गाथा है, इसमें हेय-उपादेय तत्त्व के स्वरूप का कथन है:—

**जीवादिबहितच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।**
**कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो ॥38॥**

जीवादि बाह्यतत्त्व हेय हैं; कर्मोपाधिजनित गुण-पर्यायों से व्यतिरिक्त आत्मा, आत्मा को उपादेय है। भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञायकमूर्ति है, उस पर जिसकी दृष्टि है, ऐसे आत्मा को उपादेयभूत शुद्धात्मा का श्रद्धा-ज्ञान में ग्रहण है, शुद्धद्रव्य, स्व-तत्त्व परमानंद ध्रुववस्तु वह अंत:तत्त्व है, जो शुद्धनिश्चयनय का विषय है, उसके सामने व्यवहारनय के भेदरूप विषय-परद्रव्य, परभाव और पर्याय में अनित्य अंश (भेद) सब भिन्न हैं, बाह्य हैं, हेय हैं। परमपारिणामिकभावरूप स्वद्रव्य की अपेक्षा सभी बाह्यतत्त्व हैं। औदयिकादि चार भावांतरों से यह आत्मा अगम्य है। पुण्य-पाप का शुभाशुभराग तो स्वतत्त्व में नहीं है और उसके द्वारा शुद्ध आत्मा का अंगीकार नहीं होता। अत: (1) औदयिकभाव बाह्यभाव है; आत्मतत्त्व से अन्य है। (2) औपशमिकभाव भी त्रैकालिक वस्तु-अपेक्षा अन्यभाव है, सम्यक्श्रद्धा और चारित्र में उपशमभाव होता है, वह वर्तमान निर्मलभाव है किंतु आत्मा उसके आलंबन द्वारा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। (3) क्षायोपशमिकभाव भी पर्याय है, अंश है, अनित्य है, उसके आश्रय से शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता। क्षायोपशमिकभाव अधूरा विकास है, (4) क्षायिकभाव पूर्ण विकास दशा है, वह त्रैकालिक आत्मा नहीं, वह तो व्यवहार आत्मा है। व्यवहार उस काल में जानने के अर्थ में उपादेय है, किंतु वीतराग होने के लिये आश्रय करनेयोग्य नहीं है। अरे! किसके आलंबन से शांति होगी! मृत्यु के समय कोई भगवान का नाम जपता हो, कषाय भी मंद हो, तथापि परद्रव्य के आलंबनरूप राग है, उससे आत्मा का ज्ञान और सुख नहीं होता।

आत्मा में सामान्य ध्रुवशक्ति त्रिकाल एकरूप है, उसका पूर्ण आश्रय करने से जो पूर्ण निर्मलदशा प्रगट होती है, उस पर्याय के आलंबन से भी यह आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि वह अनित्य भेदरूप अंश होने से आत्मा के साथ रहे, ऐसा स्थायी भाव नहीं है। सरागी जीव को चार भावों के लक्ष से विकल्प ही उत्पन्न होता है, अत: उस भेद के आश्रय से आत्मा प्राप्त नहीं होता; क्षणिक अंश के आश्रय से त्रिकाली-अंशी आत्मा का अनुभव नहीं होता इसलिये वह पर्याय-व्यवहारिकभाव है, शरणरूप होने की उसमें शक्ति नहीं है।

आचार्य कहते हैं कि आत्मा शाश्वत पूर्ण सुख का ध्रुवधाम है, उसे ही निश्चय-परमार्थ-शुद्धात्मा और उपादेय तत्त्व जानकर उसी का आलंबन करना चाहिये। तीन लोक के स्वामी सर्वज्ञवीतराग की दिव्यध्वनि में ऐसी सत्यकथा आती है। एक समय की निर्मल पर्याय व्यवहार आत्मा है। त्रैकालिक आत्मा, वह निश्चय आत्मा है। जिनशासन के प्राण समान समयसार की 11वीं गाथा में आचार्यदेव ने कहा है कि शुद्धनय (शुद्धनय का विषय) भूतार्थ है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है। यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्याय के आश्रय से सम्यक्त्वादिक निर्मल दशा नहीं होती; क्योंकि पर्याय में से पर्याय नहीं आती।

टीका का संक्षेप गाथा है और मूल गाथा का विस्तार टीका है। जिसप्रकार भैंस के स्तन-प्रदेश में दूध भरा है, किंतु जो बलवान है, वह अपने अंगूठे के जोर से दुहकर बाहर निकालता है; उसीप्रकार जो भाव अंदर गाथा-सूत्र में भरे हैं, उन्हें सम्यक् प्रकार से खींचकर प्रगट करना, वह टीका है; उसमें कहा है कि निश्चय आत्मा है, वह तीनों काल द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्मों से भिन्न ही है, किंतु एक समय की पर्याय से भी कथंचित् भिन्न है। शुद्ध द्रव्यदृष्टि के विषयभूत आत्मा; पर्याय-अंश भेद के बिना, त्रिकाल एकरूप स्व से ही परिपूर्ण है, किंतु पर्याय उसके सन्मुख अभेद करे तो उसे शुद्ध कहा जावेगा। अंत:तत्त्व नित्य पूर्ण विज्ञानघन विद्यमान है, उसका बहुमान न आये तो उसका आलंबन कैसे लेगा?

व्यवहारात्मा बाह्यात्मा है, उसके आलंबन से सुखी नहीं होगा। अन्य को महिमा छोड़कर अंतर में नित्य निर्विकार ज्ञायक वस्तु कौन है? उस अभेदवस्तु को देख। जैसे ऊपर की सीढ़ी पर पाँव रखे बिना नीचे की सीढ़ी नहीं छूटती, उसीप्रकार अंतर में नित्य पूर्णानंद अस्तिस्वभाव का आदर और एकत्व किये बिना राग का एकत्व नहीं छूटता। अत: प्रथम अखंड

पूर्ण अस्तिस्वभाव कैसा है, कैसा नहीं है, वह जानना चाहिये। चार विभाग अर्थात् विशेष भाव पर्यायरूप हैं, किंतु वह अखंड आत्मा नहीं है। आत्मा ऐसा नहीं, वैसा नहीं, इसप्रकार 'नेति-नेति' कहे किंतु सदा वह है कैसा? वह पहले समझना चाहिये। आत्मा स्वरूप से सत् है। 'है' उसे कौन करे? 'आत्मा है, वह नित्य है, है कर्ता निज कर्म'; भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप नित्य और परिणामी एक समय में स्व से ही परिपूर्ण है, निजभावों का कर्ता-भोक्ता एवं स्वामी है, अचिंत्य अतीन्द्रिय स्वभाववान शुद्धज्ञान उसका रूप है। प्रवचनसार शास्त्र गाथा 172 में अलिंगग्रहण के 20 बोल में कहा है कि (1) इंद्रियों से जाने, ऐसा आत्मा नहीं तथा (2) जो इंद्रियों द्वारा जाना जाये, ऐसा आत्मा नहीं है; जो पवित्रता और आनंद प्रगट करना चाहते हैं, वे पूर्ण ही चाहते हैं, वह कहीं से आती है या नहीं? वह सदा अंतरंग में प्रगट है, पवित्र पूर्ण ज्ञान सुख का निधान है, सहज स्वाभाविक वस्तु है, वह परमपारिणामिकभाव है, पर की अपेक्षा रहित पूर्णज्ञानघन वस्तु स्वयं नित्य परमस्वभाव है, उसी कारणपरमात्मा को अंत:तत्त्व, शुद्धभाव अर्थात् निश्चय आत्मा कहा है। केवलज्ञानपर्याय प्रगट होती है, वह व्यवहार परमात्मा है। सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार से मुक्त है अर्थात् दृष्टि में सर्व पराश्रय से मुक्त है।

**प्रश्न :** आत्मा और परमात्मा में क्या अंतर है?

**उत्तर :** आत्मा कहो या शुद्ध जीवतत्त्व कहो, वही नित्य एकरूप द्रव्यसामान्य-अपेक्षा त्रैकालिक निश्चय आत्मा है अर्थात् उसे ही वास्तव में उपादेय ऐसा आत्मा कहा है। पर्याय में उस कारणपरमात्मा में से पूर्ण कार्यपर्याय उत्पन्न होती है, वह व्यवहार परमात्मा है, अति आसन्नभव्यों को ऐसा त्रैकालिक आत्मा उपादेय है; दूसरा कुछ उपादेय नहीं है।

सारांश—सहज ज्ञान त्रैकालिक एकरूप शुद्ध पूर्ण विज्ञानघन परम वीतराग सुखात्मक ऐसा जो शुद्ध अन्त:तत्त्व है, वही परमपारिणामिकभाव स्वद्रव्य है, उसका सदा अभेद एकरूप आधार, यह आत्मा है, वह निश्चय आत्मा है, वही त्रैकालिक कारणसमयसार, कारणपरमात्मा है और वही आदरणीय है; उसी का आलंबन करने से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है, जो व्यवहार आत्मा है।

अनादिकाल से जीवद्रव्य निश्चय से शुद्ध परमात्मा होने पर भी, अंश में-रागादि में एकत्वबुद्धि द्वारा अपने को भूलकर वर्तमान में भूल रखकर भटक रहा है। पुण्य में रुचि होने से

विभाव-मल से मुक्त स्वरूप क्या है, हेय-उपादेय क्या है, उसका भावभासन नहीं हुआ। लोग तो कहते हैं कि हमारे कुलधर्म में देव-गुरु-शास्त्र को माने, वह सम्यग्दृष्टि है, किंतु ऐसा नहीं है। मात्र देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा या नवतत्त्वों के भेद का अनुभव करने से कोई सम्यग्दृष्टि नहीं हो जाता। कहीं-कहीं नवतत्त्वों की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है, वहाँ तो भूतार्थदृष्टि द्वारा नवतत्त्व में से नित्य एकरूप निश्चयस्वरूप शुद्धजीव को ग्रहण करने को कहा है; त्रैकालिक ज्ञायक एकरूप की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है। शुद्धनय द्वारा भूतार्थस्वभाव की श्रद्धा होने पर सर्वज्ञकथित नवतत्त्वों का स्वरूप सम्यग्ज्ञान में आ जाता है। यह बात महँगी है। पराश्रितभाव तो क्या, स्वद्रव्य के आश्रित निर्मलपर्याय भी एक समय का अंश है, वह कोई शरण नहीं है। एक समय की पर्याय को संपूर्ण आत्मा मानना भूल है, क्योंकि वह अशरण है। जिसप्रकार पवन के झंझावात में घास का कोई तिनका उड़ रहा हो, वह कहाँ जाकर गिरेगा, यह निश्चित नहीं है, उसीप्रकार पराश्रय-व्यवहार के भेद के अवलंबन से भला माननेवाले उस तिनके की भाँति चौरासी के अवतार में रुलते ही रहेंगे। अरे! अनंतकाल में सर्वज्ञ-वीतराग ने कहा, ऐसा सत्य अज्ञानवश समझा ही नहीं। अनंत बार साधु नाम धारण किया, किंतु सम्यग्दर्शन बिना अनंत दुःख पाया। स्थूल पाप तजकर पुण्य में धर्म माने, उसकी अतिस्थूल दृष्टि है। नवतत्त्वों को भूतार्थनय से जानने पर एक समय के भेद का आश्रय छूटकर त्रैकालिक अभेद शुद्ध एकरूप ज्ञायक की दृष्टि होती है, उसे सम्यग्दर्शन कहा है। स्व-पर की कथा कहने की शक्ति वाणी में है, आत्मा वाणी की रचना करे, ऐसा नहीं है। उपादेयभूत भूतार्थ पूर्णानंद की श्रद्धा द्वारा अंतर्मुख होकर नवतत्त्वों में साररूप त्रैकालिक शुद्ध जीव को जाना, वह तो निश्चय और उस समय नवतत्त्वों को जाना, उसे व्यवहार कहा जाता है। मात्र भेद को माने, ऐसा तो अनंतबार किया, किंतु महान भगवान अर्थात् निश्चय भगवान आत्मा पूर्ण सच्चिदानंद है, उसकी सन्मुखता है, उसका स्पर्श (अनुभव) नहीं किया। अतः सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। आत्मा का अनुभव सम्यग्दर्शन है।

अब, नियमसार गाथा 50 में कहते हैं कि—

**पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।**
**सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा॥50॥**

यह तो महान वस्तु है, सर्वज्ञ का मंत्र है।

पूर्व कथित सर्व भेदभाव अर्थात् आत्मा की पर्याय में अनेक शुभाशुभभाव होते हैं, वे तो परद्रव्य हैं, किंतु संवर-निर्जरा-मोक्षरूप शुद्ध पर्याय होती है, वह भी परद्रव्य है; परमार्थ से वह आश्रय करनेयोग्य नहीं है। अत: हेय है।

आत्मा की एक समय की औपशमिकादि पर्यायें, वह त्रैकालिक वस्तु अपेक्षा परस्वभाव है, हेय है। यह अपूर्व बात है, आगम का सार है, मध्यस्थ होकर आत्मार्थी बनकर सुने, निर्णय करे तो निहाल हो जाये, ऐसी बात है। जो शब्द जिस अपेक्षा से कहा जाता है, वही बराबर समझो, तभी वस्तु का यथार्थ ग्रहण होगा। ज्ञायक चिदानन्द परमात्मा स्वयं अपना अंत:तत्त्व है, वही स्व-द्रव्य है, वही उपादेय है और उससे बाह्य सभी व्यवहारिक का भाव परभाव हैं, बाह्यतत्त्व हैं। नवतत्त्व के विकल्पों पर दृष्टि रखते हैं, उन्हें भगवान के कहे हुए जीवतत्त्व की श्रद्धा नहीं है। भूतार्थ त्रिकाल ज्ञायकतत्त्व को आश्रय के लिये उपादेय कहा और निर्मल पर्याय को आश्रय छोड़ने के लिये परभाव-परद्रव्य कहते हैं, क्योंकि पर्याय के आश्रय से पर्याय नहीं होती, और भेद के आश्रय से तो रागी जीव को राग ही उत्पन्न होता है, इसलिये वह निर्मलता के कार्य में आश्रय करनेयोग्य नहीं है, इस अपेक्षा से पर्याय में चारों भाव को हेय कहा है। जीवद्रव्य को पर्याय में जो एक-एक समय की समल या निर्मल पर्याय होती है, वह व्यवहार काल्पनिक नहीं है, परंतु निर्मलता प्रगट करने के लिये और शुद्ध द्रव्य की श्रद्धा के लिये उस पर दृष्टि करना योग्य नहीं है।

जैसे महारानी पर्दे से बाहर निकले तो उसे देखने को कितना कौतूहली होता है, उसीप्रकार यह आत्मा अनादिकाल से अज्ञानरूपी पर्दे में था, श्रीगुरु उसकी प्रगट रूप में पहचान कराते हैं, अब उसे देखने के लिये कौतूहली हो!

अनंतदर्शन-ज्ञान-चारित्र और अनंतवीर्य सहित पूर्ण अक्षय आनंद की मूर्ति वह चैतन्य स्व-तत्त्व है—स्व-द्रव्य है, उसका आधार यह भगवान आत्मा है, उसे ही परमपारिणामिकभाव और उपादेय कहा है। यह तो वीतरागी श्रद्धा-ज्ञान और अनुभूति प्रगट करने की अपूर्व अलौकिक नीति-कथा है। बाह्य की बातें तो अनंत बार सुनी हैं; कॉलेज में प्रोफेसर एक घंटे तक बोलता रहे और छात्र सुनते रहें, ऐसा यह नहीं है। आत्मा को लाभरूप-शरणभूत कौन है, उसका निर्णय और अनुभव करने की यह बात है। प्रथम सम्यग्दर्शन में

अतीन्द्रिय आनंदसहित चैतन्य स्पष्ट, प्रगट प्रतिभास में आता है। समुद्र में उसके अपने कारण से समय पर ज्वार आता है, बाहर की वर्षा या नदियों के आने की अपेक्षा उसे नहीं है; उसीप्रकार भगवान आत्मा चैतन्य-रत्नाकर है; उसे इंद्रिय और बाह्य आलंबन की अपेक्षा नहीं है। एक समय की निर्मल पर्याय भी अंतर की शांति के लिये आश्रय योग नहीं है, किंतु ध्रुव अंत:तत्त्व ही शरण है, ऐसा दृढ़ निश्चय प्रथम से ही करना चाहिये। ऐसे स्वभाव की महिमा आये बिना सच्ची पात्रता नहीं आती।

नियमसार की इस 50वीं गाथा में आत्महित के लिये हेय-उपादेय का मुख्य कथन है। आत्मा को देह नहीं है, तो स्त्री-धनादि उसके कहाँ से होंगे? उसने परद्रव्य का ग्रहण नहीं किया है किंतु पर के प्रति ममत्व किया है, वह दोष त्रैकालिक निर्मोही शुद्धस्वभाव का आश्रय करे तो छूटता है। यह तो भगवान आत्मा की भागवत-कथा है, एक समय की निर्मल पर्याय भी आश्रय करनेयोग्य नहीं, इसलिये श्रद्धा में वह भी हेय है और त्रैकालिक स्वभाव-स्वद्रव्य है, वही उपादेय है। निश्चय के बल से सभी व्यवहारभाव हेय है; भेद का आलंबन लेने से रागी को राग की उत्पत्ति होती है। ज्ञानी को निचली दशा में राग-व्यवहार-निमित्त आते हैं, किंतु श्रद्धा में उनका नकार वर्तता है, वे आलंबन योग्य नहीं हैं, ऐसी प्रतीति उसे सदा रहती है, अरे! एक समय की निर्मल पर्याय की भावना करनेयोग्य नहीं है। यहाँ तो व्यवहारनय का विषय निश्चय के आश्रय से हेय है, यह स्पष्ट बतलाया है। प्रमाणरूप ज्ञान में जिसे हेय-उपादेय का निर्मल परिणमन होता ही है, उसके बिना धर्म नहीं होता।

## ज्ञान बिना शिव पंथ न सूझे

काज बिना न करे जीव उद्यम, लाज बिना रण में ही न जूझे।
दील बिना न सधै परमारथ, शील बिना सत्तसों न अरूझे।
नेम बिना न लहे निश्चेपद, प्रेम बिना रस रीत न बूझे।
ध्यान बिना न थँभे मन की गति, ज्ञान बिना शिव पंथ न सूझे।

(बनारसी विलास)

# ज्ञानी का लक्षण

**जिसके अंतर में भेदज्ञान की अभिलाषा जागृत हुई है और भेदज्ञान के लिये ही जो अभ्यास करता है, ऐसा शिष्य प्रश्न करता है कि—प्रभो! आत्मा ज्ञानस्वरूप हुआ, यह कैसे पहिचाना जाता है? आत्मा भेदज्ञानी हुआ, यह कैसे जाना जाता है? ज्ञानी को पहिचानने का क्या लक्षण है? अनादि से आत्मा विकाररूप होता हुआ अज्ञानी था, उस अज्ञान को दूर करके आत्मा ज्ञानी हुआ, वह किस लक्षण से पहिचाना जाये? उसे समझाइये। देखो, यह ज्ञानी को पहिचानने की उत्कंठा! ऐसी रुचिवाले शिष्य को आचार्यदेव ज्ञानी के लक्षण की पहिचान कराते हैं।**

जो आत्मा ज्ञानी हुआ, वह अपने एक ज्ञायकस्वभाव का अनुभव करता हुआ ज्ञानभावरूप ही परिणमन करता है, और वह विकार के या कर्म के कर्तारूप परिणमन नहीं करता। यह ज्ञानी का लक्षण है।

देखो, यह ज्ञानी को पहिचानने का चिह्न! ऐसे चिह्न से ज्ञानी को पहिचाने उसे भेदज्ञान हुए बिना नहीं रहता, इसलिये वह स्वयं भी ज्ञानी हो जाता है।

यहाँ ज्ञानपरिणाम को ही ज्ञानी का चिह्न कहा; ज्ञानी का लक्षण तो ज्ञान में होता है, कहीं शरीर में या राग में ज्ञानी का लक्षण नहीं होता। शरीर की अमुक चेष्टाओं द्वारा या राग द्वारा ज्ञानी की पहिचान नहीं होती; ज्ञानी तो उससे भिन्न है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—हे शिष्य! जो जीव ज्ञान को और राग को एकमेक नहीं करते परंतु भिन्न ही मानते हैं, भिन्न मानते हुए रागादि के कर्ता नहीं होते परंतु ज्ञाता ही रहते हैं, और ज्ञानपरिणाम के ही कर्ता होकर परिणमन करते हैं, उन्हें तू ज्ञानी मान।

व्याप्य-व्यापकपने के सिद्धांत द्वारा यहाँ ज्ञानी की पहिचान करायी है। ज्ञानपरिणाम के साथ जिसको व्याप्य-व्यापकपना है, वह ज्ञानी है, विकार के साथ जिसको व्याप्य-व्यापकपना

है, वह अज्ञानी है। व्याप्य-व्यापकपना एक स्वरूप में ही होता है, भिन्न स्वरूप में नहीं होता; इसलिये जिसे जिसके साथ एकता हो, उसे उसके साथ व्याप्य-व्यापकपना है, और उसी के साथ कर्ता-कर्मपना होता है। ज्ञानी ज्ञान के साथ ही एकता करके उसी में व्याप्त होता हुआ उसका कर्ता होता है, इसलिये ज्ञानरूप कार्य से ज्ञानी पहिचानने में आता है। ऐसा ज्ञानी विकार के साथ एकता नहीं करता, उसमें वह व्याप्त नहीं होता और उसका वह कर्ता नहीं होता। इस कारण ज्ञान की विकार के साथ एकता नहीं है। ज्ञानी का ऐसा लक्षण जो जीव पहिचाने, उसे भेदज्ञान होने से विकार का कर्तृत्व छूट जाता है और ज्ञान में ही एकतारूप से परिणमन करता हुआ वह ज्ञानी होता है। भेदज्ञान बिना ज्ञानी की सच्ची पहिचान नहीं होती।

जैसे घड़े में और मिट्टी में एकता है परंतु घड़े में और कुम्हार में एकता नहीं है, उसीप्रकार ज्ञानपरिणाम और आत्मा में एकता है, परंतु ज्ञानपरिणाम और राग में या कर्म में एकता नहीं है, इसलिये ज्ञानपरिणाम द्वारा ही ज्ञानी का आत्मा पहिचान जाता है; ज्ञानपरिणाम को राग से भिन्न पहिचानने पर अपने में भी ज्ञान और राग की भिन्नता का वेदन होकर, ज्ञानपरिणाम के साथ अभेद ऐसे अपने आत्मा की पहिचान होती है। ज्ञानी को पहिचानने का प्रयोजन तो अपने आत्मा की पहिचान करना है। जिन्होंने भेदज्ञान कर लिया, ऐसे जीवों की पहिचान द्वारा यह जीव अपने में भी वैसा भेदज्ञान करना चाहता है। जो जीव ज्ञानी के आत्मा में ज्ञान और राग की भिन्नता को जानता है, वह जीव अपने में भी ज्ञान और राग को अवश्य भिन्न जानता है; इस कारण उसे अवश्य भेदज्ञान होता है। भेदज्ञान होने पर यह जीव समस्त विकार के कर्तृत्व से रहित होकर ज्ञायकरूप से शोभायमान होता है। विकार के कर्तृत्व में तो जीव की शोभा नष्ट होती है और भेदज्ञान द्वारा वह कर्तृत्व छूटने पर आनंदमय ज्ञानपरिणाम से जीव सुशोभित होता है। ऐसा ज्ञानपरिणाम ही ज्ञानी को पहिचानने का लक्षण है।

देखो, यह ज्ञानी को पहिचानने की रीति! आचार्यदेव ने ज्ञानी को पहिचानने की अद्भुत रीति बतलायी है। इस रीति से जो ज्ञानी को पहिचानेगा, वह स्वयं ज्ञानी हुए बिना नहीं रहेगा। यह पहिचान ही धर्म की खान है। इसप्रकार जिसने ज्ञानी को पहिचाना, उसी ने ज्ञानी की सच्ची निकटता की तथा जैसा ज्ञानी का भाव है, वैसा भाव अपने में प्रगट किया। इसलिये भाव-अपेक्षा से उसे ज्ञानी के साथ एकता हुई। क्षेत्र से समीप रहकर भी जो ज्ञानपरिणाम से ज्ञानी को नहीं पहिचानता और अपने में ज्ञानपरिणाम प्रगट नहीं करता, वह वास्तव में 'ज्ञानी' के समीप नहीं रहता, ज्ञानी के भाव से वह अत्यंत दूर है।

जब जीव भेदज्ञान करता है, तब वह आस्रव से विमुख होकर अर्थात् बंधभाव से छूटकर मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होता है। दु:खमय ऐसे आस्रव, और सुखरूप ऐसा ज्ञानस्वभाव—ये दोनों भिन्न हैं, ऐसा भेदज्ञान करनेवाला जीव उसी समय ज्ञानस्वभाव के साथ एकता करके आस्रव से पृथक् हो जाता है। ऐसे ज्ञानपरिणाम का नाम भेदज्ञान है। उसी के द्वारा ज्ञानी की पहिचान होती है।

ज्ञानी धर्मात्मा मानते हैं कि मैं पर से भिन्न एक हूँ, विकाररहित शुद्ध हूँ, और ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ। ज्ञान से भिन्न जो भी भाव हैं, वह मैं नहीं हूँ।—इसप्रकार वह भेदज्ञानी धर्मात्मा असार और अशरण ऐसे संसार से पराङ्मुख होकर परम सारभूत और शरणरूप अपने स्वभाव की ओर उन्मुख होता है। इसलिये स्वभावोन्मुख ज्ञानपरिणाम को ही वह करता है, ज्ञान-परिणाम के अतिरिक्त अन्य किन्हीं भावों का वह कर्ता नहीं होता, उन्हें तो अपने से भिन्न मानकर उनका ज्ञाता ही रहता है।

आचार्यदेव प्रमोदसहित कहते हैं कि यहाँ से अर्थात् जब से भेदज्ञान हुआ, तब से जगत का साक्षी पुराणपुरुष प्रकाशमान हुआ। भेदज्ञान होते ही चैतन्य भगवान आत्मा अपने ज्ञानपरिणाम से जगमगा उठा... आनंद से शोभायमान हो उठा।

इतनी बात सुनते ही जिज्ञासु शिष्य को प्रश्न उठा कि—प्रभो! ऐसे ज्ञानी को किसप्रकार पहिचानें? चैतन्य भगवान प्रकाशित हुआ, उसे कैसे पहिचाना जाये? वास्तव में शिष्य स्वयं ऐसा भेदज्ञान प्रगट करने के लिये तत्पर है, इसलिये उसे ऐसी जिज्ञासा से प्रश्न उठा है कि मैं ऐसा भेदज्ञान किसप्रकार प्रगट करूँ?

तब आचार्यदेव उससे कहते हैं कि—ज्ञानी अपने ज्ञानमय परिणाम को ही करता है, ज्ञानमय परिणाम का ही कर्तृत्व, वह ज्ञानी का लक्षण है; वह ज्ञानी की पहिचान है। जैसे बड़े-बड़े राजा-महाराजों के ध्वज में चिह्न होते हैं; उन चिह्नों द्वारा उन्हें पहिचाना जाता है, ज्ञानी-धर्मात्मा तो राजाओं के भी राजा हैं, तो उनके ध्वज का कोई चिह्न तो होगा?—तो कहते हैं कि हाँ; रागादि के अकर्तृत्वरूप जो ज्ञानपरिणाम, वही ज्ञानी के धर्मध्वज का चिह्न है, उस चिह्न द्वारा ज्ञानी-राजा की पहिचान होती है। और इसप्रकार ज्ञानपरिणाम द्वारा ज्ञानी को पहिचाननेवाला जीव स्वयं भी उस काल ज्ञानस्वरूप होकर कर्तृत्व रहित होता हुआ सुशोभित होता है।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव का चिह्न बतलाया। आचार्यदेव ने बड़ी अद्भुत बात की है! जो इसे समझेगा, उसे अवश्य आत्म-अनुभव होगा।●

# कब मुझे समकित मिलेगा।

प्राण मेरे तरसते हैं, कब मुझे समकित मिलेगा।
कब स्वयं से प्रीत होगी, कब मुझे निजपद मिलेगा।

अरे! काल अनादि से मैं, धर्म सुनता आ रहा हूँ।
किंतु फिर भी आस्रव के, जाल बुनता जा रहा हूँ॥
दिव्य-ध्वनि के शब्द मेरे, कर्ण में तो गूँजते हैं।
किंतु मेरे हृदय में आकर, नहीं क्यों कूजते हैं॥
भव्य वेला आएगी कब, मन-कमल यह कब खिलेगा।
कब स्वयं से प्रीत होगी, कब मुझे निजपद मिलेगा॥1॥

यह ने सोचा आत्मा तो ज्ञान का सागर स्वयं है।
शुद्ध ज्ञाता विमल दृष्टा, गुण अनंत अतुल नियम है॥
कर्मरज से यह मलिन है, किंतु कंचनसमय खरा है।
जगत में सुख खोजता जब, सुख स्वयं में ही भरा है॥
कर्मरिपु का नाश करने, कब रणस्थल में चलेगा।
कब स्वयं से प्रीत होगी, कब मुझे निजपद मिलेगा॥2॥

लिप्त है व्यवहार में नित, नहीं निश्चय दृष्टि इसकी।
बढ़ रही कर्माभिनय से, नित्य प्रति ही सृष्टि इसकी॥
इसप्रकार अनंत भव, धर धर भटकता जा रहा है।
शुभ-अशुभ के बँधनों में ही अटकता आ रहा है॥
नष्ट कब मिथ्यात्व होगा, दीप समकित कब जलेगा।
कब स्वयं से प्रीत होगी, कब मुझे निजपद मिलेगा॥3॥

निर्जरा संवर न समझा, आस्रव में धर्म माना।
रही मिथ्यादृष्टि मेरी, धर्म का ना मर्म जाना॥

पुण्य से ही मोक्ष होगा, यही अब तक मानता था।
राग पर से कर रहा था, स्व-पर भेद न जानता था॥
दूर होगी भूल कब यह, ज्ञान कब उर में झिलेगा।
कब स्वयं से प्रीत होगी, कब मुझे निजपद मिलेगा॥4॥

बिना समकित आत्मा का रे नहीं उद्धार होगा।
बिना समकित धर्म से तो, मूढ़ निष्फल प्यार होगा॥
कर्मबंधन तोड़ने की, शक्ति मुझमें ही भरी है।
पर कुमति ने बुद्धि सारी, मोह-माया से हरी है॥
कब सुमति का ध्यान होगा, ज्ञान-दीपक कब बलेगा।
कब स्वयं से प्रीत होगी, कब मुझे निजपद मिलेगा॥5॥

यदि न चेता मन अभी भी, फिर न यह अवसर मिलेगा।
भ्रमण गति गति का करेगा, सदा भव भव में रुलेगा॥
आज फिर नर तन मिला है और जिनवाणी मिली है।
जाग रे मन, चेत रे मन, नीव जड़ता की हिली है॥
तत्त्व का श्रद्धान कर ले, रत्न समकित झिलमिलेगा।
कब स्वयं से प्रीत होगी, कब मुझे निजपद मिलेगा॥6॥
कब मुझे समकित मिलेगा॥

# विविध समाचार

## आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी स्मृति-समारोह

**जयपुर :** आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी स्मृति-समारोह आगामी जनवरी मास के अंतिम सप्ताह में समारोहपूर्वक मनाने का निश्चय किया गया है, जिसमें विद्वानों के भाषण, प्रवचन, प्रदर्शनी आदि के अनेक कार्यक्रम होंगे। समारोह समिति के अध्यक्ष श्री पूरणचंदजी गोदीका, उपाध्यक्ष-डॉ. सत्येन्द्रजी, संयोजक-श्री कपूरचंदजी पाटनी, सह-संयोजक-डॉ. ताराचंद्र जैन बक्शी, सदस्य-श्री महेन्द्रकुमारजी सेठी, श्री नेमीचंदजी पाटनी, श्री प्रकाशचंदजी कासलीवाल, श्री राजरूपजी टांक, डॉ. गोपीचंदजी पाटनी, डॉ. कस्तूरचंदजी कासलीवाल, डॉ. नरेन्द्र भानावत, पंडित गुलाबचंदजी, श्री तेजकरणजी डंडिया, श्री गोपीचंदजी लुहाड़िया, श्री रतनलालजी छाबड़ा, श्री सोहनलालजी जैन चुने गये हैं।

पंडित हुकमचंदजी शास्त्री को पंडित टोडरमलजी के 'व्यक्तित्व एवं कृतित्व' विषय पर शोध प्रबंध लिखने पर इंदौर विश्वविद्यालय ने पीएच.डी की उपाधि देने की स्वीकृति प्रदान की है। अत: इस महान सफलता के लिये उपरोक्त अवसर पर पंडित हुकमचंदजी शास्त्री का सार्वजनिक अभिनंदन भी किया जायेगा।

उपरोक्त समारोह में अवश्य पधारने एवं अपने सुझाव तथा शुभ-संदेश आदि भेजने के लिये सभी से नम्र निवेदन है।

सह-संयोजक—डॉ. ताराचंद जैन बक्शी
बक्शी भवन, न्यू कालोनी, जयपुर

**खडेरी ( म.प्र. )** यहाँ पर दिनांक 7-12-72 से दिनांक 11-12-72 तक आध्यात्मिक शिक्षण शिविर, एवं श्री वीतराग विज्ञान जयपुर बोर्ड की 'पढ़ाई' सुचारुरूप से चालू रखने के लिये आसपास के ग्रामों की पाठशालाओं के अध्यापकों को प्रशिक्षण हेतु लघुरूप में 5 दिन का अध्यापक प्रशिक्षण शिविर खोला गया। जिसमें श्री पंडित धन्नालालजी ग्वालियर तथा पंडित विजयकुमारजी बरायठा, जो कि प्रशिक्षण प्रणाली के विशेषज्ञ हैं। और साथ ही साथ श्री

ब्रह्मचारी बाबूलालजी, ब्रह्मचारी नित्यानंदजी सागरवाले, पंडित महेन्द्रकुमार बरायठा भी पधारे।

इस प्रशिक्षण में स्थानीय एवं बाहर से पधारे हुए 31 अध्यापक एवं अध्यापिकाओं ने लाभ उठाया। उन सबको आगामी काल में लगनेवाला वी.वि. प्रशिक्षण शिविर जो कि प्रतिवर्ष जयपुर परीक्षाबोर्ड की तरफ से लगता है उसमें सम्मिलित होने की विशेष प्रेरणा दी गई। इस थोड़े ही अवसर में स्थानीय जैन एवं जैनेतर समाज ने विशेष धर्म लाभ लिया। स्थानीय जैनेतर बंधुओं को, जैनधर्म के प्रति अगाढ़ श्रद्धा है।

हम सब मुमुक्षु मंडल सोनगढ़ संस्था के एवं पधारे हुए विद्वानों के विशेष विशेष आभारी हैं। गोविन्ददास जैन, खड़ेरी

## जैन शिक्षण-शिविर, कोल्हापुर

महाराष्ट्र प्रान्त के कोल्हापुर नगर में जैन शिक्षण शिविर का आयोजन 11 नवंबर से 20 नवंबर तक सफलतापूर्वक संपन्न हुआ। इस अवसर पर ख्यातिप्राप्त आध्यात्मिक प्रवक्ता श्री पंडित बाबूभाई महेता फतेपुर, प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान पंडित हुकमचंदजी शास्त्री न्यायतीर्थ, एम.ए., पीएच.डी. जयपुर, श्री पंडित चिमनभाईजी सोनगढ़, श्री पंडित रमेशचंदजी मलकापुर, श्री पंडित केशवराव लहानजी नागपुर, श्री पंडित जतीशभाई सोनगढ़, शिविर के प्रमुख उत्साही कार्यकर्ता विद्वान पंडित धन्यकुमारजी बेलोकर शिरपुर आदि अनेक विद्वान पधारे जिनके उपदेशामृत का पान प्रतिदिन बहुत संख्या में जैना-जैन जनता करती थी।

इसका उद्घाटन भट्टारक पट्टाचार्य श्री जिनसेन महास्वामी के संरक्षकत्व में एवं श्री नानासाहेब नाद्रकर की अध्यक्षता में श्रीमान् चांदमलजी बोरा डि. जज साहब के कर-कमलों द्वारा दिनांक 11 नवंबर को हुआ।

प्रतिदिन प्रात:कालीन जिनेन्द्र पूजन-पाठ एवं सायंकालीन जिनेन्द्र भक्ति आदि के अतिरिक्त समागत विद्वानों के प्रवचनों का आयोजन रहता था। प्रात:काल 9 से 10 बजे तक बाबूभाई द्वारा समयसार की 49वीं गाथा पर प्रवचन होता था तथा शाम को 7 से 8 बजे तक

'मोक्षमार्गप्रकाशक' में 'वर्णित सात तत्त्वों के संबंध में जीव की अनादिकालीन हुई भूल' नामक प्रकरण पर क्लास चलाते थे। अपने प्रवचन में श्री बाबूभाई ने जनता को आत्मा के शुद्ध स्वरूप की पहिचान कराने में तथा जीवादिक तत्त्वों के बारे में चली आ रही अनादिकालीन भूल को मिटाने के लिये कोई कसर नहीं उठा रखी थी।

श्री पंडित हुकमचंदजी शास्त्री के प्रात:काल 9 से 10 बजे तक 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के निश्चय-व्यवहार के प्रकरण पर क्लास एवं सायंकाल 8से 9 बजे तक 'समयसार' की 73 वीं गाथा पर प्रवचन चलते थे। पंडितजी ने अपनी अनोखी सूझ-बूझ युक्त, नवीन-नवीन तर्क, युक्ति और उदाहरणों से युक्त प्रवचन द्वारा उपस्थित जानता को 'दु:खों (आस्रवों) से यह आत्मा किसप्रकार मुक्त हो' इसका समाधान एवं निश्चय-व्यवहार की संधि को भलीभाँति समझाया।

दोपहर की कक्षा में गृहीत व अगृहीत मिथ्यात्व को कैसे छोड़ें, इसका सरल व सीधा उपाय श्री पंडित चिमनभाई द्वारा अनेक उदाहरणों से स्पष्ट किया जाता था।

इसी बीच प्रतिदिन प्रात:काल 8 से 9 बजे तक तथा सायंकाल 8 से 9 बजे तक श्री पंडित धन्यकुमारजी, पंडित रमेशचंदजी, पंडित केशवराय लहानजी तथा पंडित जतीशभाई द्वारा बालकों, प्रौढ़ों, युवावर्ग को बालबोध पाठशालाओं का शिक्षण सरल ढंग से सरल भाषा में दिया जाता था।

मराठी भाषा में अनुवादित 'बालबोध पाठमाला भाग-1' का अनावरण भट्टारक जिनसेन महास्वामी के शुभहस्त से हुआ। मराठी भाषा-भाषी मुमुक्षुओं ने अपने बीच इस पुस्तक को पाकर अत्यंत उत्साह प्रगट किया।

इसी अवसर पर अखिल भारतीय भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव की महिला समिति का गठन हुआ, जिसमें श्री पंडित बाबूभाई एवं पंडित हुकमचंदजी के महत्त्वपूर्ण भाषण के उपरांत भगवान महावीर राष्ट्रीय समिति की सदस्या समाजसेविका श्री कुसुमबहिन मोतीचंद शाह, मुम्बई, महिलारत्न श्री कलत्रे आक्का एम.एल.ए. और ब्रह्मचारिणी पंडित पद्मश्री सुमतिबाई शाह, शोलापुर ने 2500 वें निर्वाण महोत्सव का महत्व, उपयोगिता एवं पर्व कैसे मनायें आदि विषयों पर प्रकाश डाला।

शिविर की अभूतपूर्व सफलता के लिये श्री 108 मुनि समंतभद्रजी महाराज का आशीर्वाद प्राप्त था। श्री माणिकचंदजी चंवरे, श्री माणिकचंदजी भिषीकर, श्री गजराबहिन एवं स्थानीय समाज का सराहनीय सहयोग रहा।

अंत में भट्टारक श्री लक्ष्मीसेन महास्वामी के हस्त से समागत विद्वानों का सन्मान किया गया। भट्टारक महाराज ने अधिकांश प्रवचनों में उपस्थित रहकर लाभ लिया। कोल्हापुर व आस-पास की जैन समाज ने श्री बाबूभाई के वैराग्यरस से ओत-प्रोत व पंडित हुकमचंदजी के तार्किक प्रवचनों का अभूतपूर्व लाभ लिया।

**दिल्ली**—श्री पंडित बाबूभाई फतेपुर तथा पंडित श्री हुकुमचंदजी शास्त्री एम.ए., श्री पूरनचंदजी गोदीका, श्री महेन्द्रकुमारजी सेठी (जयपुर) यहाँ पधारे; दो दिन तक पंडितजी के आध्यात्मिक प्रवचनों का समाज ने बड़ी संख्या में एकत्रित होकर लाभ लिया। **—श्रीपाल जैन**

**बरायठा** (सागर, म.प्र.)—दिनांक 4-12-72 को पंडित श्री धन्नालालजी (लश्कर) प्रवचन हेतु पधारे थे। आपने द्रव्य-गुण-पर्याय, निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार, चार अभाव, स्याद्वाद, अनेकांत का सम्यक्पना और सर्वज्ञ वीतराग कथित सिद्धांत समझाया।

**—मंत्री, श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षुमंडल**

**इटावा** (उत्तरप्रदेश)—तारीख 31-10-72 समाज के विशेष आग्रह से श्री पंडित चिमनलालजी (सोनगढ़) यहाँ पधारे। आपके द्वारा समाज ने दो प्रवचन का लाभ लिया। जैन समाज ने पूज्य स्वामीजी के प्रति आभार व्यक्त किया। **—चंद्रप्रकाश जैन**

**पठारी** (सागर-म.प्र.)—यहाँ खडेरी मुमुक्षु मंडल की ओर से पंडित हीरालालजी अष्टाह्निका पर्व में श्री सिद्धचक्र विधान कराने हेतु पधारे थे, जिससे आठ दिन तक जैन शिक्षण शिविर भी रखा गया था। सभी ने अच्छा लाभ लिया। **—लखमीचंद जैन**

**मुम्बई** (मलाड)—तारीख 10-12-72 को श्री कुन्दकुन्दनगर सोसायटी तथा कहान जैन स्वाध्याय भवन का शिलान्यास सेठ श्री जुगराजजी के शुभहस्त से हुआ। तथा श्री लालचंदभाई के दो प्रवचन भी यहाँ हुए। धार्मिकता से बड़ा उत्सव मनाया गया।

# ज्ञान-प्रचारार्थ श्री पंडित धन्नालालजी का बुंदेलखंड में भ्रमण

पिछले दिनांक ग्वालियर निवासी श्री पंडित धन्नालालजी ने जगह-जगह से आमंत्रण आने के कारण करीब 15 दिन तक बुंदेलखंड के ग्रामों में भ्रमण किया। सभी स्थानों पर जैन-अजैन जनता ने अच्छा लाभ लिया। पंडितजी का कार्यक्रम निम्नानुसार रहा:—

| | |
|---|---|
| तारीख 10-11-72 से 20-11-72 | बंडा (सागर, म.प्र.) |
| तारीख 01-12-72 से 03-12-72 | बरायठा (सागर, म.प्र.) |
| तारीख 04-12-72 से 05-12-72 | शाहगढ़ (सागर, म.प्र.) |
| तारीख 06-12-72 से 07-12-72 | बम्होरी (सागर, म.प्र.) |
| तारीख 08-12-72 से 11-12-72 | खड़ेरी (सागर, म.प्र.) |

खड़ेरी से दमोह आये और वहाँ से ग्वालियर पहुँचे। तत्त्वज्ञान का अच्छा प्रचार हुआ।

— विजयकुमार जैन

# जब तक ज्ञान तब तक वैराग्य

**( सवैया इकतीसा )**

जबलग जीव सुद्धवस्तुकौं विचारै ध्यावै,
तबलग भौगसौं उदासी सरवंग है।
भोगमैं मगन तब ग्यान की जगन नांहि,
भोग-अभिलाषकी दसा मिथ्यात अंग है।
तातैं विषै-भोगमैं मगन सो मिथ्याती जीव,
भोगसौं उदास सो समकिती अभंग है।
ऐसी जानि भोगसौं उदास ह्वै मुकति साधै,
यहै मन चंग तो कठौती मांहि गंग है ॥12॥

**अर्थ**—जब तक जीव का विचार शुद्ध वस्तु में रमता है, तब तक वह भोगों से सर्वथा विरक्त रहता है और जब भोगों में लीन होता है, तब ज्ञान का उदय नहीं रहता, क्योंकि भोगों की इच्छा अज्ञान का रूप है। इससे स्पष्ट है कि जो जीव भोगों में मग्न होता है, वह मिथ्यात्वी है और जो भोगों से विरक्त है, वह सम्यग्दृष्टि है। ऐसा जानकर भोगों से विरक्त होकर मोक्ष का साधन करो! यदि मन पवित्र है तो कठौती के जल में नहाना ही गंगा-स्नान के समान है ओर यदि मन मिथ्यात्व, विषय-कषाय आदि से मलिन है तो गंगा आदि करोड़ों तीर्थों के स्नान से भी आत्मा में पवित्रता नहीं आती ॥12॥

**( समयसार नाटक )**

# सुवर्णपुरी ( सोनगढ़ ) समाचार

परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख-शांति में विराजमान हैं। श्री नियमसारजी तथा श्री समयसारजी शास्त्रों पर आध्यात्मिक प्रवचन हो रहे हैं। अन्य सब कार्यक्रम नियमित चलते हैं। सोनगढ़ में विशाल परमागम मंदिर का जो निर्माण कार्य चल रहा है; उसकी दीवारों पर जिन शास्त्रों की गाथाएँ उत्कीर्ण होना है, उनमें श्री पंचास्तिकाय शास्त्र की गाथाएँ इटली से आई हुई मशीन द्वारा उत्कीर्ण हो चुकी हैं और जिनका उद्घाटना समारोह करीब एक मास पूर्व मगसिर कृष्णा अष्टमी के दिन पूज्य स्वामीजी के शुभहस्त से हुआ था। ठीक 30 दिन बाद श्री समयसारजी शास्त्र की गाथाएँ उत्कीर्ण करने की उद्घाटन विधि पौष कृष्णा अष्टमी को विशाल समारोहपूर्वक अजित मुद्रणालय में हुई। अजित मुद्रणालय के संचालक एवं कर्मचारी बड़ी सावधानीपूर्वक यह कार्य कर रहे हैं। अन्य अनेक सज्जनों का अच्छा सहयोग प्राप्त हो रहा है। जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट के वयोवृद्ध भूतपूर्व अध्यक्ष माननीय श्री रामजीभाई दोशी एवं वर्तमान अध्यक्ष श्री नवनीतभाई जवेरी स्वयं इस कार्य का निरीक्षण कर रहे हैं। मशीन का संचालन मुम्बई से आये हुए कुशल कारीगरों द्वारा हो रहा है। दोनों अवसरों पर सेठ श्री पोपटलाल मोहनलाल वोरा तथा उनके सुपुत्र श्री हसमुखभाई वोरा ने अत्यंत हर्षोल्लास व्यक्त किया और करीब 9000) का दान दिया। अन्य अनेक महानुभावों की ओर से दान में अच्छी रकमें आईं थीं, जिनमें जयपुर निवासी सेठश्री पूरणचंद्रजी गोदीका का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने इस अवसर पर परमागम मंदिर में संगमरमर का फर्श लगाने के लिये दान दिया था।—इसप्रकार दोनों शास्त्रों की उद्घाटन विधि के अवसर पर अच्छी रकम दान में आई थी। परमागम मंदिर का कार्य भलीभाँति चल रहा है, जिसके करीब एक वर्ष में पूर्ण होने की संभावना है। पूज्य श्री कानजीस्वामी जैसे आध्यात्मिक संत की छत्रछाया में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव की अनुभववाणी भारत में प्रथमबार उत्कीर्ण हो रही है, यह वास्तव में मुमुक्षुओं का महान सद्भाग्य है।

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)